# पथ प्रदीप

मानव - सेवा - संघ - प्रकाशन

# पथ प्रदीप

दिव्य ज्योति देवकी जी
के
जीवनोपयोगी विचार

प्रकाशक
मानव सेवा संघ, वृन्दावन

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०, भारत

प्रथम संस्करण : २,००० प्रतियाँ
अक्टूबर, १९८७

मूल्य : मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक :
श्रीहरिनाम प्रेस,
वृन्दावन.

# प्रार्थना

[प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है]

★

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें ;
जिससे वे
सुख-दुःख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायँ

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

## संघ के ११ नियम

१—आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहम् को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

११—व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

# समर्पित

हे प्रकाशमय ! आपका दिया हुआ प्रकाश मेरी
अहं-शून्यता में निर्बन्ध होकर तेजोमय
आलोक के असस्र प्रवाह के
रूप में जन-जीवन को
युगों-युगों तक
आलोकित
करता रहे, इसी प्रार्थना के
साथ आपकी वस्तु
आप ही को
समर्पित !

विनीता :
दिव्य ज्योति देवकी

# अनुक्रमणिका

★



★

# जीवन-कला

★

मानव-सेवा-संघ जीवन कला है। कैसे जियें, जिससे जीना सार्थक हो जाय? संघ की विचारधारा इसी प्रश्न का उत्तर है। किसी के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ। जीवन की शोध हुई और उत्तर मिला। वह उत्तर सार्वभौम हो जाय, इसी उद्देश्य से उसे संघ के माध्यम से प्रकट किया गया है। अतः जो कुछ बताया गया है, वह कोरा सिद्धान्त नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।

## हम कैसे जी रहे हैं, कैसे जीना चाहिए :

अब तक हमने बहुत कुछ किया, पर करने का अन्त नहीं हुआ। बहुत कुछ जाना, पर निःसन्देह नहीं हुये। बहुतों को अपना माना, पर हृदय की भूख नहीं मिटी। कभी वस्तुओं का अभाव, कभी पराधीनता का दुःख, कभी नीरसता की पीड़ा, कभी लोक की और कभी परलोक की चिन्ता सताती ही रहती है। अतः हमें जीना नहीं आया। इस दशा में यदि हम जीवन का मूल्यांकन बदल डालें, तो हमें जीने की कला आ जायेगी। शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) का पोषण-मात्र जीवन नहीं है। यह तो सृष्टि का एक स्थूल भाग है। जो कुछ सत्य और मधुर है, उसकी

उपलब्धि में ही जीवन है। अतः शरीरों के पोषण की क्रिया में-से अपना संवेगात्मक सम्बन्ध हटा लें। प्रेरकों (Motives) की उत्पत्ति से उत्पन्न तनाव (Tension) और पूर्ति से प्राप्त आराम (Relief) के परिणामस्वरूप भासित होने वाले सुख में-से महत्व-बुद्धि निकाल दें। सत्य, शाश्वत और मधुर से मिलने के लिये यह पहला कदम है। यह कठिन बात नहीं है और यदि इसे कठिन मानेंगे तो दूसरा उपाय भी नहीं है। जीवन चाहिए, तो इतना करना ही होगा और हम सभी कर सकते हैं। हम जीते तो हैं,पर मृत्यु की राह पर। अब इस ढंग से जियें कि जिन्दगी की राह पर आ जायें।

शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की रचना ही इस प्रकार की है कि उन्हें बनाये रखने के लिये समय-समय पर अनेक प्रकार के प्रेरक (Motives) उत्पन्न होते रहते हैं और उनकी पूर्ति भी अनिवार्य होती है। परन्तु यह हमारी भूल है कि हम उसी क्रम को जीवन स्वीकार कर लेते हैं। इस भूल को मिटाना है। शरीरों का पोषण केवल इनकी सुरक्षा की दृष्टि से करें तो हमारा आहार-विहार अपने आप संयमित हो जायेगा। शरीर जीवन नहीं है, जीवन प्राप्ति के लिये साधन-सामग्री है। अतः इसको आवश्यक वस्तुओं के द्वारा पोषित कर इसे परिवार और समाज की सेवा में लगा दें। शरीरों की आसक्ति से रहित हो जाने पर आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं रह जाता। तन, धन, कुल, परिवार आदि पर से अपने ममत्व का भार हटा लेने पर

सबका स्वतः प्राकृतिक विकास होता है। यह लोक को सुन्दर बनाने की उत्तम कला है। आज तन में, मन में, परिवार में और समाज में जो कुरूपता दिखाई देती है, वह हमारे ममत्व का ही दुष्परिणाम है। हम जगत के साथ रहने की कला सीखलें, तो हमारा इनका सम्पर्क सार्थक हो जाय, अर्थात् आसक्ति-रहित व्यक्तियों की सेवा पाकर जगत आनन्द से फूले-फले और जगत की सेवा करके उससे मुक्त होकर व्यक्ति सत्य एवं मधुर से मिल कर कृत्-कृत्य हो जाय।

उपर्युक्त रीति से सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति का नम्बर आता है। सेवा की परिणति शान्ति में होती है। इच्छाओं की चहल-पहल से मुक्त होने पर श्रम-रहित होकर हम 'स्व' में प्रतिष्ठित होते हैं। मैं क्या हूँ ? जीवन क्या हैं ? जगत क्या है ? आदि-आदि प्रश्नों का सही उत्तर पाकर निस्सन्देह होना साधनयुक्त जीवन का फल है। हमने भूगोल और खगोल का बड़ा अध्ययन किया, परन्तु अपने को नहीं जाना, इसलिये निस्सन्देह नहीं हो सके, क्योंकि जब हम अपने से भिन्न किसी को जानने का प्रयास करते हैं, तो हमें शरीरों का सहारा लेना ही पड़ता है; इन्द्रिय-दृष्टि एवं बुद्धि-दृष्टि से ही देखना पड़ता है। ये स्वयं ही सीमित हैं, अनेक प्रतिबन्धों से परिच्छिन्न किये हुये हैं। इनकी पृष्ठ-भूमि पक्षपातपूर्ण है। इनका निर्णय सत्य नहीं हो सकता। अतः उसके आधार पर प्राप्त की हुई जानकारी निस्सन्देह नहीं हो सकती। अब तक यही होता रहा है। जिन्होंने 'स्व' में प्रतिष्ठित होकर अपने को

जान लिया, वे निस्सन्देह हो गये। उन्होंने सारी सृष्टि का रहस्य पा लिया। परन्तु हम इन्द्रिय-दृष्टि एवं बुद्धि-दृष्टि को सत्य मानकर बार-बार धोखा खाते रहते हैं। असत्य के माध्यम से सत्य नहीं जाना जा सकता। इनके माध्यम से जो जानने में आता है, उसका उपयोग-मात्र हम कर सकते हैं। प्यास और जल दिखाई दे तो जल ले, प्यास बुझा लें। बस, इतना ही कर सकते हैं। इन दृष्टियों से जो सत्य और सुन्दर भासित होता है, उसके पीछे दौड़ते रहे, परन्तु श्रम, शक्तिहीनता एवं मृत्यु के सिवाय हाथ कुछ न लगा। अतः हम जानना ही चाहते हैं, तो अपने को जानें। यह सम्भव है, यही आवश्यक है। केवल यही जाना जा सकता है और यही जानना पूर्ण जानना है। इतना जान लेने के बाद फिर और कुछ जानना शेष नहीं रहता।

अपने को कैसे जानें? श्रम-रहित होकर। मैं देह नही हूँ, देह मेरी नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है—विवेक के प्रकाश में विवेचन के आधार पर ऐसा अनुभव किया जाय और उसी के अनुरूप निर्णय लिया जाय तो विश्राम मिलेगा। शरीरों से असंगता प्राप्त होगी। असंगता की शान्ति में जीवनी-शक्ति स्वतः अपने अविनाशी उद्‌गम की ओर प्रवाहित हो जाती है। अवि-नाशी से अविनाशी योग हो जाता है। तत्व-बोध हो जाता है। अभाव का पूर्ण अभाव हो जाता है। सन्त-वाणी में मैंने सुना है कि इसे निजानन्द कहते हैं। बड़ा भारी आनन्द होता है। हम जिस स्तर पर खड़े हैं, वहां से उस आनन्द का अनुमान नहीं कर सकते। महर्षि रमण जी को असंगता

का आनन्द प्राप्त हुआ था, तो वे कई महीने उसी मस्ती में पड़े रहे। महात्मा बुद्ध को निर्वाण का आनन्द प्राप्त हुआ था, तो वे भी बहुत दिनों तक उसी मस्ती में जंगलों में घूमते ही रहे। जन्म-जन्मान्तर का बंधा हुआ, थका हुआ, तापित, पीड़ित मानव जब विश्राम पाता है तो उसके आनन्द का क्या कहना ! अज्ञान का घना अन्धकार यकायक जब ज्ञान के प्रकाश से सदा के लिए नष्ट होता है और साधक का सीमित अहं गल कर निज-स्वरूप में समाहित हो जाता है, तो केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है। जिसको संभाल न सकने पर साधक स्वयं आनन्द-स्वरूप हो जाता है।

ज्ञान की अन्तिम परिणति है—निज-स्वरूप से अभिन्न हो जाना। जिसने अपने को जाना, उसने सब कुछ जान लिया। जिसने मरकर जीना सीख लिया, वह अमर हो गया। उसका लोक-परलोक सब उसी में समा गया। स्वामी रामतीर्थ ने मस्त होकर कहा था—"राम मुझ में, मैं राम में हूँ।" यह उनकी स्वानुभूति है। वह आज भी जन-जीवन में गूंज रही है। युग-युगान्त तक गूंजती रहेगी। यह जीवन का सत्य है। यह अमरत्व है। इससे अभिन्न होने की कला जीवन की कला है। उससे भिन्न प्रकार का जीना जिन्दगी नहीं, मौत का ही रूपान्तर है। मानव-सेवा-संघ ने मानव-मात्र को अमरपद का जन्मजात अधिकारी माना है।

जो सत्य और शाश्वत है, उसका एक अविभाज्य पहलू है—मधुर। जो सत्य है, वह शाश्वत है, वही मधुर

भी है। हम सबकी रचना इन्हीं मूलतत्वों से हुई है। इसलिये हममें जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहां प्रियता की लालसा भी है। लेखिका को स्वयं ही अपने निजी जीवन में ऐसे दीन-हीन क्षणों का अनुभव हुआ है कि जिनमें हृदय के अन्तर्तम से यही करुण-कराह उठती थी :—

'हे मेरे रचयिता ! लम्बी नीरस और शुष्क अवधि के बदले मुझे क्षणभर का रसपूर्ण जीवन दे दो। ज्ञान के प्रकाश में प्रेम का अनन्त सागर लहराता रहे !'

रसमय जीवन ही सत्य और शाश्वत जीवन है। यही जीवन है। इसकी उपलब्धि की कला ही जीवन की सर्वोत्तम कला है।

संसार में संसार के लिए रहो, अपने लिए संसार की आशा करना सच्चाई से दूर होना है। —सन्त वाणी

# मानव की महिमा

★

मानव जीवन की प्राप्ति किसी पुण्य-कर्म का फल नहीं है, रचयिता की देन है। यह स्वतः सिद्ध सत्य है। चूँकि मानवेतर योनियों में पुण्यकर्म करने की स्वाधीनता नहीं है, इसलिए मानव का निर्माण उसके कर्मफल पर नहीं, रचयिता की स्वेच्छा पर निर्भर है। इस सत्य से यह प्रकाश मिलता है कि जो किसी की देन है, वह अपने लिए नहीं है। परन्तु बड़े ही दुःख की बात है कि व्यक्ति इस सत्य की उपेक्षा करके यह सोचने लगता है कि मैं संसार में आया हूँ, तो मुझे सुख मिलना ही चाहिए। सुख की कामना से प्रेरित होकर व्यक्ति शरीर के मोह एवं वस्तुओं के लोभ से आक्रान्त हो जाता है। जड़ता, पराधीनता एवं अभाव से ग्रसित होकर स्वयं दुःखी होता है और सामाजिक जीवन में दुःख फैलाता है। फिर भी मानव के जीवन में शान्ति, स्वाधीनता एवं परम प्रेम की मौलिक मांग विद्य-मान रहती है। उस मांग का नाश कभी नहीं होता, क्योंकि यह अविनाशी तत्त्व है। अतः व्यक्तिगत जीवन की मौलिक मांग की पूर्ति तथा सामूहिक जीवन की विषमता एवं सङ्घर्ष का अन्त करना जिसे अभीष्ट है, उसे इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानव-जीवन अपने लिए नहीं है। तब यह प्रश्न उठता है कि जीवन किसके लिए

है ? इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि मानव का जीवन जगत् और जगत्पति के लिए है।

विचार करने पर यह साफ दिखाई देता है कि शरीर है संसार में और मैं हूँ अनन्त में अनन्त से भिन्न मेरा अस्तित्त्व नहीं है और संसार से भिन्न शरीर का अस्तित्त्व नहीं है, क्योंकि शरीर संसार के बाहर नहीं जा सकता और मैं अनन्त की सत्ता के बिना नहीं रह सकता। अत: अनन्त हैं और उनका संसार है। इस सत्य को स्वीकार करते ही न 'मैं' रहा और न मेरा शरीर रहा अर्थात् इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से शरीर विश्व के काम आ जाय और अहम् गल कर अनन्त की प्रीति हो जाय, तो यह मानव की पूर्णता है।

इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व में जितना भौतिक पहलू है (तीनों शरीर), उतने अंश में सभी को भौतिकवादी होना चाहिए। इसका व्यावहारिक दृष्टि से अर्थ (Practical implication) यह है कि शरीर और संसार की सजातीयता के आधार पर शरीर को संसार की सेवा में लगा देना चाहिए। सेवा से भिन्न शरीरों का मानव के जीवन में कोई महत्व नहीं है। पर यह रहस्य तभी समझ में आता है, जब इस बात पर ध्यान रहे कि शरीर अपना नहीं है और अपने लिये नहीं है। तब साधक कर्तृत्व के अभिमान और कर्मों की फलासक्ति से मुक्त हो जाता है। उदारतापूर्ण कर्तव्य-परायणता उसके लिए सहज स्वाभाविक हो जाती है, जो विश्व-शान्ति का मूलमन्त्र है।

आज मानव-समाज में चारों ओर हा-हा-कार क्यों मचा है ? कर्तव्य परायणता की अवहेलना और अधिकार लिप्सा की प्रबलता से। आज राष्ट्रीय जीवन के आगे निराशा का घना अन्धकार क्यों छाया है ? क्योंकि आज हम इस सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि मानव-जीवन में महत्त्व कर्तव्य-पालन का है, अधिकार-लिप्सा का नहीं। अधिकार-लिप्सा से रहित कर्तव्य-निष्ठा से मानव का जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। कर्तव्य-परायणता योग का पूर्व-पक्ष हैं और योग कर्तव्य-परायणता का उत्तर-पक्ष है। कर्तव्यनिष्ठ साधक योग-युक्त हो जाता है।

'मानव के जीवन में अपना कुछ नहीं है।' इस सत्य के आधार पर शरीरों पर से जब अपने ममत्व का भार हटा लिया जाता है और उनको जगत् की ही वस्तु मान-कर जगत् की ही सेवा में लगा दिया जाता है, तो शरीर का जगत् से योग हो जाता है। अहम् और मम के बन्धन से मुक्त स्थूल शरीर की क्रियात्मक सेवा से स्थूल जगत् का, सूक्ष्म शरीर की भावात्मक सेवा से सूक्ष्म जगत् का और कारण शरीर की व्यापकता से कारण जगत् का अद्भुत योग हो जाता है। यह योग-युक्त सेवा विभु होती है। व्यष्टि और समष्टि, शरीर और जगत् के बीच योग हो जाने से शरीरों में अपार भौतिक शक्तियाँ आ जाती हैं। अनेक दिव्यताओं की अभिव्यक्ति होने लगती है। फिर भी ये सारे विकास और सभी उपलब्धियाँ अपने लिए नहीं हैं। शुभ कर्म, सार्थक चिन्तन एवं निर्विकल्प स्थिति से

प्राप्त सामर्थ्य—सब कुछ मानव-जीवन के भौतिक पहलू का ही विस्तार है।

अतः यह सब कुछ जगत् की सेवा के लिए ही है; अपने लिए नहीं। इतनी सावधानी रखते हुए जब साधक सही प्रवृत्ति द्वारा रागमुक्त होकर योगयुक्त होता है और उस योग का भी भोग जब नहीं करता तब 'स्व' का विकास आरम्भ होता है अर्थात् वास्तविक जीवन, जो स्वयं अपने ही में है, उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है, जिसकी परिणति आत्म-रति एवं प्रभु-प्रेम है। सही प्रवृत्ति के बाद जो सहज निवृत्ति आती है उस निवृत्ति की शान्ति में भी रमण न किया जाय, तो सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति अपने आप अपने उद्‌गम की ओर प्रवाहित हो जाती है। यह अविनाशी से अविनाशी योग है। उसी शान्ति में उस विचार का उदय होता है जो निज स्वरूप का बोध कराता है और उसी शान्ति में-से उस भाव की अभिव्यक्ति होती है जो अनन्त के लिए रस-रूप है। इस रस के प्रवाह में सीमित अहम्-भाव समाहित होता है। ऐसा अहम्-शून्य प्रेम-पूर्ण जीवन जगत्पति को रस प्रदान करता है और यही मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष है। यही पूर्ण जीवन है। यही मानव-जीवन का परम लाभ है। विकास का यह सुन्दरतम एवं मधुरतम रूप सर्वोत्कृष्ट है, जो अनन्त सौन्दर्यवान् एवं अनन्त माधुर्य्यवान् को भी रस प्रदान करता है।

धन्य है मानव-जीवन और धन्य हैं इसके रचयिता! मानव इतना स्वाधीन है कि उसे अपने लिए किसी से कुछ

नहीं चाहिये ; वह इतना उदार है कि अखिल विश्व की सेवा कर सकता है और इतना मधुर, इतना प्रेमी है कि प्रेम-सिन्धु को रस से तरङ्गित कर सकता है। अतः ऐसी रचना और उसके रचयिता पर बलि-बलि जाऊँ।

यह जो मानव जीवन है, इसमें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम किसी और के गुरु बनें, हम किसी और के नेता बनें। इसमें सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम अपना गुरु बनना सीखें, अपना नेता बनना सीखें। अपने को समझा-बुझा सकें और अपने द्वारा अपने साधन का निर्माण कर सकें।

—सन्तवाणी

प्रत्येक उलझन उन्नति का साधन है, डरो मत। उलझन रहित जीवन बेकार है। संसार में उन्हीं प्राणियों की उन्नति हुई है, जिनके जीवन में पग-पग पर उलझन आई है। उलझन जागृति उत्पन्न करती है, प्रमाद को खा लेती है, छिपी हुई शक्ति को विकसित करती है; परन्तु जो प्राणी उससे डरता है, उसको अपना दास बना लेती है। अपने पर अपनी कृपा करना सीखो, किसी और के दोष मत देखो। यदि हो सके तो अपनी निर्बलताओं को देखो और उनके मिटाने का प्रयत्न करो, हार स्वीकार मत करो। जब प्राणी अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तब अनन्त शक्ति (Universal Energy) अपने आप रक्षा करती है।

— सन्तवाणी

# 'मैं' का परिचय

हम क्या जानते हैं? अपनी सीमित सत्ता को, अर्थात् जन्म-मरण की सीमा से बंधी हुई अपनी सत्ता हमारी जानकारी में है, अभी वर्तमान में अपना होनापन अपने को भासित होता है। जन्म से पहले मैं क्या था ?— याद नहीं है। मरने के बाद क्या होऊँगा ?—पता नहीं है। इस समय, इस वर्तमान में मुझे मालूम होता है कि 'मैं' हूँ। मैं कौन हूँ ? क्या हूँ ? क्यों हूँ ? इन प्रश्नों का कोई स्पष्ट उत्तर मालूम नहीं है। फिर भी 'मैं' हूँ। यह भास स्पष्ट है।

इसी सीमित सत्ता के भास से 'यह' का विस्तार आरम्भ होता है। जिसको अपने सीमित अहम् का भास होता है, उसे अपने से भिन्न 'यह' की प्रतीति होती है। जिसको 'मैं' और 'यह'—ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, उसको अपने में 'यह' के प्रति आकर्षण मालूम होता है। इसी सीमित सौन्दर्य्य के आकर्षण का नाम है—काम-वासना। यही सर्व दुःखों की जननी है। प्रतीति अपने आप में आकर्षक या विकर्षक नहीं है कि इसको जब देखा जायगा तो आसक्ति या विरक्ति पैदा होगी। सीमित

अहम्-भाव में संसार का आकर्षण है, जिससे संसार की प्रतीति होती है। संसार के संयोग-जनित सुख की प्रवृत्ति में पड़कर यह पता चलता है कि सुख की तृष्णा बढ़ गयी, पर सुख चला गया। अपने को केवल अभाव मिला। अपनी इस बेवशी की पीड़ा को हम जानते हैं।

जिस सीमित अहम्-भाव में 'यह' का आकर्षण है, उसी में सत्य की खोज भी है। जिज्ञासा से प्रेरित व्यक्ति विवेक के प्रकाश में देख लेता है कि पराश्रय-जन्य सभी सुख सीमित हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों पर आश्रित कर्म, चिन्तन एवं स्थिति जन्य सुख सीमित हैं। यह सब 'यह' का ही विस्तार है। इसमें विचरने वाला कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। अतः सीमित सुख जीवन नहीं है। यह जानकर साधक दृश्य-मात्र से विरक्त हो जाता है। वह शरीर और संसार का नाश नहीं करता। शरीर और संसार का उपयोग करता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं रहता।

जिस अहम् में सुख का आकर्षण और सत्य की खोज है, उसी में प्रियता की लालसा भी है। 'मुझे दुःख-रहित, स्वाधीन और सरस जीवन चाहिये' यह मौलिक माँग प्रत्येक साधक में रहती है। यह उसकी अपनी विशेषता है। इसी कारण नीचे-से-नीचे गिरा हुआ व्यक्ति भी अपने उत्थान की आवश्यकता अनुभव करता है। मौलिक मांग कभी मिटती नहीं है। इसकी पूर्ति होती है, क्योंकि इसकी पूर्ति में ही वास्तविक जीवन है। इस माँग से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने को साधन युक्त बनाने का

प्रयास करता है। फिर भी उसके प्रयास अधूरे क्यों पड़ते हैं? जिस दुःख-रहित, स्वाधीन एवं सरस जीवन की आवश्यकता वह अनुभव कर रहा है, उससे अभिन्न होने में देर क्यों लगती है? यह साधक समाज का एक सजीव प्रश्न है।

विचार करने पर साधक के जीवन को इस समस्या का एक खास कारण मालूम होता है। वह कारण यह है कि जिस जीवन की आवश्यकता हम अनुभव करते हैं, उसकी सत्ता में जब तक आस्था नहीं रखते, तब तक हमारे सब प्रयास निर्जीव होते हैं। साध्य की सत्ता में ही सन्देह हो तो फिर साधन कैसा?

सामान्यतः साधकों के लिये यह बात कठिन पड़ती है कि वे वास्तविक जीवन की आवश्यकता तो अनुभव करते हैं, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों से उसे देख नहीं पाते और बुद्धि से समझ नहीं पाते। उस अगम अगोचर को बिना देखे, बिना जाने कैसे स्वीकार करें कि वह 'है'। मुझे इस कठिनाई का अनुभव हुआ था। इसने साधन पर मेरे प्रथम-कदम को ही रोक रखा था। मुझे याद है—जीवन का सत्य मेरा व्रत बन कर मेरे सामने आया। मुझे परामर्श मिला कि स्वीकार करो :—

(i) मेरा कुछ नहीं है।

(ii) मुझे कुछ नहीं चाहिये।

(iii) सर्व समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं। इससे तुम्हें शान्ति, स्वाधीनता और परम-प्रेम मिल जायगा।

सत्य को मैंने सुना, स्वीकार भी करना चाहा, परन्तु डरते-डरते, सशंकित हृदय से,—फलस्वरूप मेरा विकास रुका रहा ; साधन में सजीवता आई नहीं।

'मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है।' यह जीवन के भौतिक पहलू का वैज्ञानिक तथ्य है।

'मुझे कुछ नहीं चाहिये' यह दार्शनिक सत्य है। 'सर्व समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं' यह आस्तिक-भाव है। ये वाक्य मुझे पसन्द आये, यथार्थ मालूम हुए। अपने लिए इनको बहुत बार मैंने दुहराया परन्तु मेरे सब प्रयास निष्प्राण रहे, किसी का कोई सजीव प्रभाव मुझ पर नहीं हुआ। दुःख नहीं मिटा, हलकापन नहीं आया ; जीवन सरस नहीं बना। असफलता की पीड़ा जब घनीभूत हुई तब अपनी भूल का पता चला कि 'चिर-शान्ति, परम स्वाधीनता और अनन्त रस से भरपूर जीवन है'—इसी में मेरी आस्था दुर्बल है। इसी कारण साधन में सजीवता नहीं है। इस व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर साधक-समाज की सेवा में यह नम्र निवेदन है कि साधक-मात्र का यह परम-पुरुषार्थ है कि वह दुःख-रहित, परम-स्वाधीन रस-रूप जीवन की सत्ता में दृढ़ आस्था रखें—सफलता अवश्यम्भावी है। साध्य की सत्ता में दृढ़ आस्था से ही मांग तीव्र होती है।

मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त के अनुसार माँग की तीव्र जागृति और उसकी पूर्ति युगपत हैं। माँग उसे नहीं कहते जिसकी पूर्ति न हो। माँग पूरी होती ही है। माँग

की पूर्ति में ही वास्तविक जीवन है। 'वह दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन है।' उसका होनापन ही मानव की माँग के रूप में विद्यमान है और जो असाधन के मिटने पर प्राप्ति के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव बन जाता है। उसके होनेपन में विकल्प के लिये कोई स्थान ही नहीं है। अतः जीवन की वह मांग जो किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखती, अवश्य पूरी होती है। यह आस्था बड़ी विलक्षण है। इस आस्था से ही सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति साधना में लग जाती है, जीवन और साधन की एकता हो जाती है। साध्य की सत्ता में दृढ़ आस्था—साधक की सफलता का मूल आधार है।

'मैं' का स्वरूप है—उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। उदारता से 'मैं' जगत के लिए, प्रेम से प्रभु के लिए और स्वाधीनता से अपने लिए उपयोगी होता है।

— सन्तवाणी

जो सृष्टि आपको दुःख देती हुई प्रतीत होती है, वह न तो आस्तिकवादी की दृष्टि में है, न अध्यात्मवादी की दृष्टि में और सच बात तो यह है कि वह भौतिकवादी की दृष्टि में भी नहीं है। दुःख देने वाली सृष्टि तो व्यक्ति ने अपने आप में-से ही उत्पन्न की है—जाने हुए असत् का संग करके। भौतिकवाद की दृष्टि से सृष्टि व्यक्ति का विकसित व्यापक रूप है, अध्यात्म-वाद की दृष्टि से सृष्टि उसका अपना निज स्वरूप है और आस्तिकवाद की दृष्टि से सृष्टि अनन्त की अनुपम लीला है। आस्तिकवादी साधक सृष्टि के स्वरूप में अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन कर, अनेक रूपों में उन्हीं को लाड़ लड़ाते हुए, उन्हीं की प्रीति हो जाता है।

—सन्तवाणी

# अचाह – मानव का परम पुरुषार्थ

★

मानव का जगत् तथा जगत् के प्रकाशक से अवि-भाज्य सम्बन्ध है। अपनी माँग को लेकर परमात्मा से तथा काम को लेकर जगत् के साथ वह सम्बद्ध है। उसकी मांग है बोध एवं प्रेम की, जिसकी पूर्ति योग के बिना नहीं होती। उसमें रुचि है सुख भोग की, जिसके कारण वह शरीर से तादात्म्य किये बिना एवं संसार की दासता में आबद्ध हुए बिना रह नहीं सकता। यह तादात्म्य और संसार की दासता ही उसे योग से विमुख रखती है। काम की उत्पत्ति भूल-जनित है, इस कारण इसकी पूर्ति नहीं होती, निवृत्ति होती है और माँग स्वतः सिद्ध है, इसलिए इसकी पूर्ति होती है। परन्तु जीवन का यह एक अनुभव-सिद्ध सत्य है कि काम की निवृत्ति के बिना मांग की पूर्ति नहीं होती। इस दृष्टि से काम की निवृत्ति मानव-जीवन का पहला और अन्तिम पुरुषार्थ है, क्योंकि उसके बाद मांग की पूर्ति स्वतः होती है, साधक को और कुछ करना शेष नहीं रह जाता।

पूर्व में यह कहा गया है कि मानव का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, वह भोग की रुचि को लेकर है। भोग की रुचि के कारण ही जगत् प्रतीत होता है, उसमें सत्यता एवं सुखरूपता भासित होती है, परन्तु उसकी कभी प्राप्ति नहीं होती ; क्योंकि उसके साथ मानव की स्वरूप की एकता तथा उससे नित्य सम्बन्ध नहीं है। इस कारण जगत् के साथ जो भूल से सम्बन्ध माना गया है उसकी निवृत्ति अनिवार्य है। चूँकि भोग की रुचि अर्थात् चाह के कारण ही यह सम्बन्ध बनता है, इसलिए चाह-रहित होना ही इस सम्बन्ध की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है।

चाह-रहित होने के लिए चाह के स्वरूप पर विचार किया जाय। चाह के उत्पन्न होते ही व्यक्ति अभाव-जनित नीरसता से पीड़ित होकर चाह-पूर्ति के लिए जगत् में प्रवृत्त होता है, परन्तु मानव-जीवन का यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि उसे कभी तृप्ति नहीं मिलती। चाह-पूर्ति के सुख का प्रभाव राग के रूप में अहम् में अंकित होता रहता है। उसी सुखाभास की पुनरावृत्ति के लिए बारम्बार चाहों की उत्पत्ति होती रहती है, जिससे व्यक्ति श्रमित रहता है। चाहयुक्त दशा में कभी किसी को चैन नहीं मिलता। अनुकूल परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, भोग की शक्ति का ह्रास हो जाता है, पर चाहों का अन्त नहीं होता। इस दृष्टि से चाह-पूर्ति मानव का जीवन नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि चाह के उत्पन्न होते ही मानसिक संतुलन (Mental Equilibrium) भंग होता है। एक अस्वाभाविक तनाव उत्पन्न होता है। जिसके कारण

व्यक्ति स्वस्थित नहीं रह सकता। स्वस्थित रहने में जो जीवन है, उससे वंचित हो जाने के कारण योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता नहीं हो पाती, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से चाह-रहित होना अनिवार्य है।

योगयुक्त होने के लिए अचाह अचूक उपाय है। अचाह होने से, जिससे नित्य सम्बन्ध है, उससे दूरी तथा भेद नहीं रहता और जिससे केवल काल्पनिक सम्बन्ध है उसकी निवृत्ति हो जाती है। काल्पनिक सम्बन्ध के आधार पर जगत् प्रतीत होता है। जब तक जगत् की प्रतीति होती रहती है, तब तक जिससे नित्य सम्बन्ध है उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता भी प्रतीत होती रहती है। सब प्रकार की चाह से रहित होने पर साधक को उसकी प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसका नित्य सम्बन्ध तथा स्वरूप की एकता है और वह जगत् के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। जगत् के प्रभाव से मुक्त होना ही योगयुक्त होना है। योगयुक्त होकर ही बोध एवं प्रेम से अभिन्नता होती है।

अब चाह-रहित होने के लिए शरीर एवं विश्व के सम्बन्ध पर विचार करें। शरीर और विश्व की स्वरूप से एकता है, क्योंकि दोनों एक ही धातु से निर्मित हैं। शरीर का विश्व से विभाजन नहीं हो सकता, अपितु एकता ही होती है। शरीर विश्वरूपी वाटिका की खाद हो सकता है, इसी में उसकी स्वाभाविकता एवं सार्थकता है। इसके विपरीत शरीर को विश्व की सहायता से बनाये रखने की अभिरुचि भारी भूल है। इसी भूल से संसार में भेद एवं संघर्ष का जन्म होता है और व्यक्ति मोह तथा

आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाता। मानव जब तक शरीर को अपना मानता है और जगत् को अपने लिए मानता है, तब तक उसकी भोग की रुचि का नाश नहीं होता, जो योग में बाधक है। अतः काम की निवृत्ति एवं योग की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि शरीर को व्यक्तिगत सम्पत्ति न माना जाय और उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख सम्पादन न किया जाय, प्रत्युत शरीर का सदुपयोग जगत् की सेवा में कर दिया जाय।

सेवा-भाव से की गई प्रवृत्ति से नये राग अङ्कित नहीं होते और पुराने राग निवृत्त हो जाते हैं। स्वयं अधिकार-लालसा से रहित होने पर जगत् के अधिकारों की रक्षा की सामर्थ्य आ जाती है, जिससे शरीर और जगत् की एकता सिद्ध होती है। शरीर के द्वारा विश्व की सेवा एकमात्र उदार होने से ही सम्भव है। उदार होने का अर्थ है सुखियों को देखकर प्रसन्न और दुखियों को देखकर करुणार्द्र होना। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होने पर काम की उत्पत्ति ही नहीं होती, अर्थात् प्रसन्नता काम के नाश में हेतु है। करुणा से प्रभावित होने पर सुख-भोग की रुचि शेष नहीं रहती, साधक राग-रहित हो जाता है। समस्त सृष्टि में सुख और दुःख का ही दर्शन होता है। इस दृष्टि से उदार मानव बड़ी ही सुगमता पूर्वक विश्व-जीवन के साथ एक हो जाता है और विश्व के प्रकाशक से अभिन्न हो जाता है। यह स्पष्ट है कि भोग की रुचि के कारण व्यक्ति का जगत् से जो सम्बन्ध है, वह भूल-जनित है, परन्तु उदारता और सेवा के आधार पर जगत् से जो

सम्बन्ध है, वह प्राकृतिक है। भूल-जनित सम्बन्ध के प्रभाव से मुक्त होकर प्राकृतिक सम्बन्ध का निर्वाह विकास में हेतु है।

उदारता मानव को विराट से अभिन्न कर देती है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं, यह जीवन का तथ्य है। इस तथ्य को अपना लेने पर संकीर्णता मिट जाती है, जो कर्त्तव्य-परायणता में हेतु है। कर्त्तव्य परायणता योग का पूर्व पक्ष है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव राग तथा क्रोध से रहित होकर योगयुक्त हो जाता है। योगयुक्त साधक सही काम करता है और सही काम करने से उसमें योगयुक्त होने की सामर्थ्य आती है। यह कर्त्तव्य विज्ञान है। सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति स्वतः आती है, जिससे वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता के द्वारा मानव-जीवन में दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ होती हैं—एक तो यह कि शरीर की विश्व के साथ एकता सिद्ध होती है, जो दोनों के लिए ही कल्याणकारिणी है और दूसरी यह कि उदारता में जो रस है, वह साधक को काम-रहित कर देता है, जिससे उसकी विश्वातीत जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है।

जगत् की दासता से मुक्त होना और परमात्मा से अभिन्न होना मानव-जीवन का लक्ष्य है। चाह-रहित होकर साधक जगत् की दासता से मुक्त हो जाता है। उदार होकर वह कर्त्तव्य पालन करता है। सही प्रवृत्ति के बाद सहज विश्राम आता है। विश्राम की शान्ति में रमण न करने पर शरीरों से असंग होकर 'स्व' में प्रविष्ठित होने

की सामर्थ्य साधक में आती है, जो योग है। योगयुक्त होना परमात्मा की महिमा से अभिन्न होना है। योगयुक्त होने पर उस विचार का उदय होता है जो तत्त्व के बोध में हेतु है। तत्त्व का बोध होना परमात्मा के स्वरूप से अभिन्न होना है। उसके बाद प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जिससे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहम् गल कर प्रेम-तत्त्व में बदल जाता है। यह परमात्मा के स्वभाव से अभिन्न होना है। योग से दूरी, बोध से भेद एवं प्रेम से भिन्नता का नाश होता है। योग, बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

सभी साधनों का पर्यवसान अचाहपद में है, कारण कि अचाह होने पर ही अप्रयत्न और अप्रयत्न होने पर ही साध्य से अभिन्नता प्राप्त होती है, जो जीवन का मुख्य उद्‌देश्य है।

—सन्तवाणी

# राग निवृत्ति-नित्ययोग

★

समस्त सृष्टि के मूल में जो एक अद्वितीय अनुपम परम तत्त्व है, वही मानव के जीवन का उद्गम है। वही सबका आधार एवं प्रकाशक है। उसी एक से मानव का नित्य सम्बन्ध है। जब मानव अपनी ही भूल से कामना-युक्त होकर उस एक से विमुख होकर अनेक से सम्बन्ध मान लेता है, तब वह अपने उद्गम से दूर हो जाता है। इस दशा में वह अपने में अभाव और नीरसता पाता है, जो उसे अभीष्ट नहीं है। यह कैसी विचित्र दशा है कि अभाव और नीरसता से पीड़ित होकर बार-बार कामना-पूर्ति के ही सुख-द्वारा वह अपने को बहलाना चाहता है, परन्तु यह अनुभूत सत्य है कि इस प्रयास में कभी भी किसी को सफलता नहीं मिलती।

उद्गम में नित्यता है। जिसमें नित्यता है उसमें अखण्ड आनन्द और अनन्त रस भी है। उसमें प्रबल आक-र्षण है। उस आकर्षण शक्ति के कारण ही उसकी विमुखता की दशा में कोई ठहर नहीं पाता। अतः उससे नित्य योग की माँग सभी में रहती है।

कामना से प्रेरित होकर प्रतीति के अनेक दृश्यों से सम्बन्ध मानने के कारण अहं की शक्ति अनेक भागों में विभाजित हो जाती है। चित्त-वृत्तियों के अनेक केन्द्र बन जाते हैं। चित्त बहुत ही द्रुत-गति से विभिन्न केन्द्रों पर लगता और हटता रहता है। परन्तु उसे कहीं ठहराव नहीं मिलता। मानव अपनी इस अस्वाभाविकता से बहुत ही श्रमित होता है, जिसकी अन्तिम परिणति शक्ति-हीनता और मृत्यु है। इस दशा से मुक्त होकर परम स्वाधीन रस-रूप जीवन से अभिन्न होने के लिए शक्ति को अनेक केन्द्रों की ओर से समेट कर एक अविनाशी उद्गम की ओर प्रवाहित होने देना अनिवार्य है। इसी का नाम है योग।

योग-युक्त होने के लिए पराश्रय एवं परिश्रम से रहित होना अनिवार्य है। जैसे 'पर' (शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि) की सहायता से भोग में प्रवृत्ति होती है, वैसे 'पर' की सहायता से योग-सिद्ध नहीं होता। परन्तु भोग की रुचि के रहते हुए, पराश्रय एवं परिश्रम से बचना सम्भव नहीं है। इस कारण योग-युक्त होने के लिए भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है।

विश्राम के सम्पादन के लिए श्रम के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। श्रमित होने का मूल कारण अहंकृति है। क्रिया-मात्र में श्रम नहीं है। अहंकृति-युक्त क्रिया में श्रम है। देह को "मैं" या उसे "मेरा" मानना मूल भूल है। इसी भूल से काम की उत्पत्ति होती है। अहं के काम युक्त रूप का नाम अहंकृति है। अहंकृति सूक्ष्माति-सूक्ष्म से लेकर स्थूल-से-स्थूल श्रम की जननी है। अहंकृति

वह बीज है जो कर्त्तृत्व के अभिमान, क्रिया-जनित सुख के भोग और कर्म के फल में आसक्ति को जन्म देता है। अतः विश्राम पाने के लिए अहंकृति का नाश अनिवार्य है। अशुभ कर्म, व्यर्थ चिन्तन एवं जड़ता-युक्त सुषुप्ति का त्याग तो अनिवार्य ही है। शुभ-कर्म, सार्थक चिन्तन एवं निर्विकल्प स्थिति से भी तादात्म्य रखने पर अहंकृति का नाश नहीं होता। फलतः श्रम का अन्त नहीं होता और श्रम-रहित हुए बिना योग नहीं होता। अहंकृति का नाश होने के बाद भी आवश्यक कार्य सम्पादित होते हैं; पर वे श्रमोत्पादक नहीं होते, विश्राम के सम्पादन में साधनरूप होते हैं।

अहंरूपी अणु सूक्ष्म होने के कारण सभी अवस्थाओं से तादात्म्य भी कर लेता है और सभी से अतीत में भी प्रवेश पाता है। अहंकृति-युक्त दशा में यह कर्म, चिन्तन एवं स्थिति के आश्रित जीवित रहता है। इन अवस्थाओं से तादात्म्य होने के कारण वह परिच्छिन्नता में आबद्ध रहता है, जो नित्य योग में बाधा है। ठीक इसके विपरीत अचाह होने पर जब अहंकृति का नाश हो जाता है, तब अवस्थाओं से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाती है और अहं-रूपी अणु अवस्थातीत जीवन से अभिन्न हो जाता हैं, जो नित्य-योग है।

चाह-रहित होने के कई आधार हो सकते हैं :—

१—'चाह पूर्ति जीवन नहीं है'—इस अनुभव के आधार पर चाह की निवृत्ति सहज है।

२—नित्य-योग की मांग प्रबल होने पर चाह का अन्त करना स्वाभाविक हो जाता है।

३—विवेक के प्रकाश में जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उससे माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद कर लेने पर काम नष्ट हो जाता है।

४—अनेक विश्वासों को एक प्रभु-विश्वास में बदलकर प्रेम की प्राप्ति के लिए अचाह होना सहज हो जाता है।

५ - 'श्रम में मृत्यु और विश्राम में जीवन है।' इस तथ्य को जानकर श्रम-रहित होने के लिए चाह का त्याग सहज, स्वाभाविक हो जाता है।

६—'कुछ न चाहने पर सर्व-श्रेष्ठ जीवन मिलता है।' इस सिद्धान्त में आस्था करने से अचाह होना होता है।

७—'कुछ न करने पर जो अपने आप होता है, वह वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देने में हेतु है।' इस तथ्य की आस्था से भी अचाह होकर अप्रयत्न होना सहज स्वाभाविक होता है।

चाह-रहित होते ही साधक स्वभाव से ही श्रम-रहित हो जाता है, जो योग की भूमि है। साधक स्वयं अचाह होता है। चाह-रहित होने से साधक में परिवर्तन होता है। फिर उसका प्रभाव साधक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर पड़ता है।

काम-रहित होने पर मन निर्विकल्प हो जाता है। साधक के सूक्ष्म शरीर को जगत् की सूक्ष्म शक्तियों से एकता हो जाती है। ज्यों-ज्यों मन की निर्विकल्पता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों उसका प्रभाव स्थूल शरीर पर भी होता जाता है। भोग के प्रभाव से उत्पन्न शारीरिक विकृतियों का नाश हो जाता है। योग के प्रभाव से उत्पन्न शुद्धता और स्वस्थता आती है। शरीर सात्विक हो जाता है। बुद्धि समता में स्थित हो जाती है, जिसके होने से कारण-शरीर और कारण-जगत् से एकता हो जाती है। इन्द्रियों की विषय-विमुखता, मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता की अवस्था में आवश्यक एवं अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। महर्षि पतंजलि 'कृत योगदर्शन' के विभूतिपाद में उपर्युक्त सिद्धियों का बहुत ही क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवरण दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योग-युक्त होने का प्रभाव भौतिक पहलू पर भी कितना चमत्कार पूर्ण होता है। फिर भी साधक को बड़ी ही सावधानी पूर्वक उन शक्तियों का उपभोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह सब भौतिक विकास की सीमा के भीतर ही हैं। कारण-जगत् के साथ एकता से उत्पन्न यह भी एक अवस्था विशेष है। इस अवस्था में दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। विषमता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से समाधि का बहुत ही महत्त्व है।

फिर भी जब सजग साधक इस समता में सन्तुष्ट नहीं होता, तब अपने आप उसमें एक अद्‌भुत गति होती है, जो उसे उद्‌गम से मिला देती है। अविनाशी से नित्य-

योग हो जाता है, जो उसको बोध और प्रेम से अभिन्न करने में समर्थ है। जैसे भोग से उत्पन्न दुःखमय अवस्थाओं से मुक्त होने के लिए साधक तत्पर हो जाता है, वैसे ही योग से उत्पन्न अलौकिक चमत्कारपूर्ण दिव्यताओं से भी असंग रहने के लिए तत्परता अनिवार्य है, अन्यथा इन दिव्यताओं का सुख लेने लगने पर योग का भोग होने लगता है, जो अवस्थातीत जीवन में प्रवेश नहीं होने देता। जैसे क्रिया का सुख स्थूल शरीर एवं चिन्तन का सुख सूक्ष्म शरीर के आश्रित ही भासता है, उसी प्रकार निर्विकल्पता के सुख में कारण-शरीर का आश्रय रहता है। इस कारण निर्विकल्प स्थिति में रमण भी राग है।

राग के रहते हुए नित्य-योग नहीं होता और नित्य-योग के बिना बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण सर्वांश में राग-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सब प्रकार की पराधीनताओं से रहित होने से ही साध्य है।

अपने लिए लेश-मात्र भी पराश्रय एवं परिश्रम अपेक्षित नहीं है, क्योंकि अपने में ही अपना जीवन है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। जीवन-धन जीवन में हैं और कहीं नहीं। अतः सब ओर से विमुख होकर अपने में प्रेमास्पद को पाकर प्रत्येक साधक कृत-कृत्य हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

# दुःख – एक विवेचन

समस्त सृष्टि सुख-दुःख से युक्त है। इसी कारण कोई भी प्राणी सुख-दुःख से रहित नहीं है। फिर भी दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, किसी को अच्छा नहीं लगता। दुःख बहुत बुरा लगता है। फिर भी वह बिना बुलाये, अनिवार्यतः सभी के जीवन में किसी-न-किसी रूप में आता ही है। मानव-समाज में दुःख के सम्बन्ध में युगों-युगों से अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। आइये, हम विचारें, विचार करें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है, जिससे आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुतः बुरा है. भयावह है, निन्दनीय है, दुष्कर्मों का परिणाम है, भाग्य-विधाता का दण्ड-विधान है या कि सृष्टि-कर्ता की भूल है? सामान्य दृष्टि से दुःख के सम्बन्ध में उपर्युक्त सब बातें सही मालूम होती हैं। परन्तु यह सोचने की बात है कि यदि दुःख वस्तुतः बुरा होता, तो जीवन में आता क्यों ! तब, फिर दुःख को क्या कहा जाय ?

मानव सेवा संघ के प्रणेता ने दुःख के महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर अनोखा प्रकाश डाला है। दुःख के दुःखद स्वरूप

और उसके कारण तथा निवारण के विभिन्न उपायों की चर्चा मानव-समाज के इतिहास में प्रारम्भ से ही होती आयी है, परन्तु मानव सेवा संघ ने दुःख को एक अनुपम, उपयोगी एवं अनिवार्य तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण में दुःख के प्रति मानव सेवा संघ का अनुशीलन (Approach) अनूठा है। तदनुसार दुःख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं है, कृपा-पूरित विधान की अनुपम देन है। जो दुःख जीवन का अभिशाप मालूम होता है, उसको कृपा-प्रसाद मानना विचित्र-सा लगता है, लेकिन है सत्य। जिन सन्त-शिरोमणि के जीवन के अनुभव पर संघ का चिन्तन आधारित है उन्होंने दुःख के मांगलिक पक्ष को 'दुःख का प्रभाव' कहकर सम्बोधित किया है। इस दृष्टिकोण को समझने के लिए दुःख और उसके प्रभाव के स्वरूप पर विचार कर लें। कामना-अपूर्ति दुःख है। उससे विकल होना दुःख का भोग है, और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य छिपा है। दुःख स्वयं अपने में न प्रशंसनीय है और न निन्दनीय। प्रश्न सिर्फ इतना है कि आप दुःख को भोगते हैं या कि उसके प्रभाव से प्रभावित होकर सचेत होते हैं। यदि आप दुःख के भोगी हैं तो दुःख अभिशाप है। वह कभी आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप दुःख से प्रभावित हैं तो दुःख वरदान है। वह आपको दुःख-रहित जीवन से अभिन्न करा देगा।

दुःख क्या है? दृश्य मात्र उत्पत्ति-विनाश का अनवरत क्रम है। इस दृष्टि से दुःख सृष्टि का अनिवार्य स्वरूप है। मनुष्य इस प्राकृतिक तथ्य को जानते हुए भी

जब किसी दृश्य में आसक्त हो जाता है तब उस दृश्य का विनाश उसे दुःखद प्रतीत होता है। अतः दुःख दुःखी की भूल का परिणाम है।

किसी भी रूप में आने वाले दुःख को रोक सकने में असमर्थ होने पर, आये हुए दुःख को दूर करने में घोर असमर्थता अनुभव करने पर व्यक्ति के अहं का अभिमान गलता हैं। अहं की कठोरता गलने से हृदय कोमल होता है, सर्व दुःख-निवृत्ति के लिए चेतना जगती है, दृश्य के प्रति सुख-बुद्धि का अन्त होता है। इन क्षणों में जीवन का सत्य प्रत्यक्ष होता है। सत्य की आवाज व्यक्ति पर अपनी गहरी छाप लगाती है। परिणाम-स्वरूप दुःख-रहित परम शान्त जीवन की ओर अपूर्व प्रगति होती है। यह दुःख की देन है।

तत्त्व-दृष्टि से सत्य एक है। वह एक ही अलख, अगोचर, अव्यक्त तत्त्व बिराट् दृश्य जगत् के रूप में व्यक्त होता है। वह एक दिव्य, चिन्मय, रसरूप प्राणिमात्र के लिए मंगलकारी है। अतः मंगलकारी के मंगलमय विधान से जितनी परिस्थितियाँ बनती हैं, वे स्वरूप से सबके लिए मंगलकारिणी हैं। सुखद परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से भावित उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार करता हुआ स्वयं सुख-भोग से अलिप्त रहकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं होता है तो उसका परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय जो एकमात्र अपना है—दुःखद परिस्थिति का रूप धारण करता है। दुःख आते ही व्यक्ति सचेत होकर

त्याग को अपनाता है और दुःख-रहित जीवन पाता है। दुःख के आते ही व्यक्ति अधीर होकर दुःखहारी हरि को पुकारता है और उनके प्रेम-प्रसाद से सदा के लिए दुःख से छूट जाता है। दुःख के रूप में दूसरा और कोई नहीं है, स्वयं अपने वे ही हैं, यह पहचान होते ही दुःखद परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यह स्पष्ट हो जाता है। दुःख के बिना जीवन की वास्तविकता का ऐसा प्रत्यक्ष बोध सम्भव नहीं है।

मंगलकारी सृष्टिकर्ता के मंगलमय विधान के द्रष्टा संत के मुख से ऐसा भी सुना गया है कि जब व्यक्ति सुख आने पर उदारतापूर्वक सेवा नहीं करता तब प्राकृतिक विधान से उसके विकास के लिए दुःखद परिस्थितियाँ आती हैं। यदि वह प्रमादवश दुःखद परिस्थितियों में त्याग को नहीं अपनाता और दुःखहारी हरि का आश्रय नहीं लेता—किसी भी प्रकार से सचेत होकर अविनाशी जीवन की ओर आगे नहीं बढ़ता, तब विधानानुसार उसे चिर-काल के लिए जड़ता में ग्रस्त रहना पड़ता है। जब जड़ता घनीभूत हो जाती है, तब केवल सुख-दुःख की बाध्यता ही शेष रह जाती है। परन्तु, इसके विपरीत, जब व्यक्ति दुःख का भोगी न बनकर गये हुए सुख को वापस लाने के लिए व्यग्र न होकर, दुःख-काल में ही दुःख के प्रभाव को अपना लेता है, दुःख-निवृत्ति का पुरुषार्थ—'त्याग-व्रत' को धारण कर लेता है तब वह सदा-सदा के लिए त्रिविध दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परमानन्द की अभिव्यक्ति में हेतु होने से मंगलमय विधान से निर्मित मंगलकारी तत्त्व है।

अतः मानव सेवा संघ ने मानव-मात्र को यह परामर्श दिया है कि दुःख के आने पर किसी को भी घबराना नहीं चाहिये, दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिये और अपने को दीन एवं भाग्यहीन मानकर दुःख का भोगी भी नहीं बनना चाहिये, प्रत्युत् दुःख के महत्त्व को जानकर, उसके प्रभाव को अपनाकर सदा के लिए दुःख-रहित आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहिये। इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित कुछ सूत्र बहुत ही उपयोगी हैं :—

(१) दुःख से बचने के लिए सुख-काल में सुख की वासना का त्याग अनिवार्य है। जो सुख का दास नहीं है वह दुःखी नहीं होता।

(२) सर्वात्मभाव से भावित होकर दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना महान् साधन है। जो हृदय परपीड़ा से पीड़ित होता है, जिस हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है, उस पर व्यक्तिगत दुःख का आक्रमण नहीं होता। पर-पीड़ा से पीड़ित, पर-हित में निरत सेवापरायण व्यक्ति का दुःख सारा समाज बाँट लेता है और सेवक निर्द्वन्द्व शान्ति में निवास करता है।

(३) दुःख आने पर दुःख के प्रभाव को अपनाओ और खूब हृदय-मन्थन होने दो। ऐसा करने से प्राकृतिक विधान से प्राप्त दुःख के प्रभाव से दीर्घकाल की दुष्कृतियों का परिणाम नष्ट हो जाता है, दीर्घकालीन वासनाओं की जड़ कट जाती है, स्मृति-लाभ हो जाता है। इस दृष्टि

से दुःख परम कल्याणकारी हैं। निष्कामता, निर्वासना, असंगता एवं शरणागति तत्त्वों का जितना विकास दुःख के प्रभाव को अपनाने से अल्प-काल में हो सकता है, उतना विकास अन्य साधनों से दीर्घकाल में भी कठिन है। अतः आये हुये दुःख का स्वागत करो।

(४) दुःख आने पर हार स्वीकार मत करो। लक्ष्य से निराश मत होओ। दुःखद घटनाओं के अर्थ पर विचार करो और उनके विकासात्मक पहलू को अपनाकर परिस्थितियों को पार कर जाओ।

(५) दुःख स्वयं उतना हानिकारक नहीं है जितना दुःख का भय। भयभीत होकर व्यक्ति भीतर से शक्तिहीन हो जाता है। भयभीत होने के कारण वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद भूल जाता है। बिना सोचे-विचारे घबराहट की प्रतिक्रिया से दुःखद परिस्थिति अधिकाधिक जटिल हो जाती है। संघ की भाषा में "डरने से दुःख दूना हो जाता है और नहीं डरने से आधा रह जाता है, उसका सदुपयोग करने से वह सदा के लिये मिट जाता है।" अतः दुःख से कभी भयभीत मत होओ।

(६) संघ के प्रणेता, क्रान्त-द्रष्टा सन्त ने दुःख के प्रति अपना मानव-मात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं अभिनव दृष्टिकोण दिया है, उसका विशेष परिचय संघ द्वारा प्रकाशित 'दुःख का प्रभाव' नामक पुस्तिका से मिलता है। इस पुस्तिका में दुःख तत्त्व का रचनात्मक प्रस्तुतीकरण सर्वथा मौलिक, मार्मिक एवं हृदयग्राही है,

क्योंकि वह श्री महाराजजी का अनुभूत सत्य है। जैसा कि हम लोगों ने श्री महाराजजी के श्रीमुख से ही सुना है कि उनके सामने बाल्यकाल में ही दुःख विकट रूप में आया। असाधारण मेधावी बालक के अरमानों को गहरी ठेस लगी और जीवन की खोज आरम्भ हो गई। उस दुःख ने उन्हें वहां पहुँचा दिया जहाँ दुःख का लेश नहीं हैं—जहाँ चिर-विश्राम, पूर्ण-स्वाधीनता और नित-नव प्रेम का रस परिपूर्ण है। अतः दुःख तत्त्व के कल्याणकारी स्वरूप का जो चित्रण है वह श्री महाराजजी का जीवन ही है। एक बार एक सन्त-प्रेमी मित्र ने श्री महाराजजी से निवेदन किया था कि महाराजजी मैं आपकी जीवनी लिखना चाहता हूँ, आपकी जीवनी क्या है, मुझे बताइये। श्रीमहाराजजी ने उत्तर दिया—मेरी जीवनी लिखोगे ? लिख लो, "दुःख का प्रभाव।"

**मंगलमय विधान से दुःख का प्रादुर्भाव दुःखियों के दुःख का नाश करने के लिए ही हुआ है। उससे भयभीत होना साधक की अपनी कायरता है, जिसका विकासोन्मुख जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।**

**—सन्तवाणी**

निज-ज्ञान गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि उत्पत्ति बिना आधार के और प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। जो दृश्य का आधार तथा प्रकाशक है, वही समस्त साधकों का अपना है, अपने में है, अभी है, समर्थ है तथा अद्वितीय है। उस साध्य में ही साधक की अविचल आस्था तथा श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। विश्वास ही विश्वासपात्र की प्राप्ति में हेतु है। विश्वास से सम्बन्ध और सम्बन्ध से स्मृति तथा प्रियता स्वतः जागृत होती है। इस सत्य को स्वीकार कर साधक को साधननिष्ठ होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, सफलता अवश्यम्भावी है।

—सन्तवाणी

# सन्तुलन

वर्तमान युग में व्यक्तित्व को संतुलित रखने का प्रश्न जटिल होता जा रहा है। मानसिक तनाव (Mental-tension) से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। इसके निराकरण का उपाय ढूँढ़ना आवश्यक हो गया है। यह सभी का अनुभव है कि संकल्पों की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़ने से मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार संकल्प-पूर्ति में आने वाली बाधाओं के कई पहलू हैं—(१) कभी परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है। (२) कभी व्यक्ति में भोगने की शक्ति घट जाती है। (३) कभी विवेक का समर्थन नहीं मिलता और (४) कभी-कभी एक ही समय में समान बलशाली, किन्तु परस्पर विरोधी, कई संकल्प उठ जाते हैं, जिससे कि उनकी पूर्ति असम्भव हो जाती है। प्रथम दो दशाओं में मानसिक-तनाव रहता है, और अन्तिम दो दशाओं में घोर अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो सभी प्रकार के मानसिक रोगों का जन्मदाता है।

शारीरिक एवं मानसिक प्रेरकों तथा तज्जनित संकल्पों की उत्पत्ति को प्राकृतिक मानकर आधुनिक

मनोविज्ञान ने मानसिक तनाव तथा अन्तर्द्वन्द्व का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक माना है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे तनाव कम करने की बात (Tension Reduction) कहते हैं। इसको मिटाने का उपाय वे नहीं बताते। अधिक-से-अधिक वे अहम् (Ego) को सबल बनाने की बात कहते हैं, जिससे कि संकल्प-अपूर्ति-जनित क्षोभ की दशा का सामना किया जा सके, वातावरण के साथ अपने को अभियोजित करते हुए यथासम्भव संकल्पों को पूरा किया जा सके और विवेक तथा सामर्थ्य विरोधी संकल्पों को समुचित ढङ्ग से दमित किया जा सके। अर्थशास्त्री अर्थ-व्यवस्था और समाजशास्त्री समाज-व्यवस्था की बात कहते हैं, जिससे कि व्यक्तियों के जीवन के मुख्य प्रेरकों एवं तज्जनित संकल्पों की पूर्ति की सामग्री अधिकाधिक सुलभ बनाकर जन-समाज को सन्तुष्ट किया जा सके।

इस दिशामें किये गये उपायोंका उलटा परिणाम दिखाई दे रहा है। अधुनिक युग में जिन-जिन देशों में जनसमाज के संकल्पों की पूर्ति की सामग्रियाँ बहुतायत से उपलब्ध हैं, उन-उन देशों में मानसिक तनाव से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तुओं की बहुलता मानसिक असंतुलन का कारण है। मानसिक असन्तुलन का कारण है वस्तुओं की सुखरूपता में विश्वास, जिससे कि अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना बढ़ती है। यही बढ़ते हुए मानसिक तनाव का कारण है।

संकल्पों को पूरा करना अथवा उन्हें दबाना, ये दोनों ही उपाय व्यक्ति को मानसिक-तनाव से न केवल मुक्त करने में सर्वथा अनुपयुक्त हैं, प्रत्युत उसकी वृद्धि का कारण बन जाते हैं। संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रभाव अहम् में अंकित होता है। फलतः उस सुखद अनुभूति की पुनरावृत्ति के लिए पुनः पुनः संकल्प उठते ही रहते हैं। व्यक्ति की तृष्णा बढ़ती चली जाती है। आराम नहीं मिलता। उसी प्रकार दमित संकल्पों का भी अन्त नहीं होता। उनको दबाये रखने में सूक्ष्म शक्ति का निरन्तर ह्रास होता रहता है। जब कभी उद्दीपन मिलता है, तब वे दमित संकल्प प्रबल वेग से उठ जाते हैं और व्यक्ति को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। एक और रहस्य की बात यह है कि संकल्प-पूर्ति में जो सुखाभास होता है, वह पूर्ति के उपादानों में नहीं है। वह मानसिक तनाव के ढीले पड़ने का आराम है। इसी प्रकार अपूर्त्ति का जो दुःख है, वह वस्तुओं आदि के अभाव के कारण नहीं है, मानसिक क्षोभ-जनित असन्तुलन के कारण है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति से उत्पन्न आराम तथा क्षोभ अहम् की दशाएँ हैं। किन्हीं बाहरी उपादानों से इनका निराकरण नहीं हो सकता। अपने व्यक्तित्व को सन्तुलित रखने के लिए जितना ही हम बाहरी उपायों पर निर्भर रहते हैं, उतना ही मानसिक तनाव एवं द्वन्द्व के कारण शक्तिहीन होते जा रहे हैं।

बढ़ती हुई अशान्ति एवं असमर्थता से पीड़ित मानव–समाज की दुर्दशा इसलिये हो रही है कि आधुनिक

युग ने व्यक्तियों के जीवन में संकल्प-पूर्ति के सुख का अकारण ही अत्यांकन (Over-estimation) कर रक्खा है। अतः हमें इस समस्या पर मौलिक ढङ्ग से विचार करना है। निज विवेक के प्रकाश में विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि यह जीवन संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख एवं दुःख को भोगने के लिए नहीं है। वह संकल्प की निवृत्ति की शान्ति का सम्पादन करने के लिए है। शान्ति से ही व्यक्ति सामर्थ्यवान् होकर अपना कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है। संकल्प-पूर्ति के सुख में आसक्ति अपनी भूल है। संकल्प निवृत्ति की शान्ति स्वाभाविक है। मानव-दर्शन का सुझाव यह है कि जीवन का मूल्यांकन वदलना चाहिये। सुख और दुःख के द्वन्द्व से अतीत शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए जीना चाहिए, क्योंकि ये ही मानव की वास्तविक मांग हैं। इस मांग की पूर्ति के वाद फिर कोई अभाव नहीं रह जाता। इस दृष्टि से मानव-जीवन में संकल्प-पूर्ति की सुखासक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

जीवन के प्रति इस मौलिक दृष्टिकोण को अपनाते ही संकल्पों की उत्पत्ति की बाढ़ रुक जाती है। उत्तम बात तो यह होती है कि अशुद्ध एवं अनावश्यक संकल्पों का उठना ही बन्द हो जाता है और यदि वे कभी उठते भी हैं, तो साधक उनका त्याग कर देता है। उसके बाद शुद्ध एवं आवश्यक अर्थात् विवेक एवं सामर्थ्य के अनुरूप जो संकल्प उठते हैं, वे स्वयं ही पूरे हो जाते हैं। जिन संकल्पों की पूर्ति में रुकावट नहीं पड़ती, उनसे मानसिक असन्तुलन उत्पन्न नहीं होता। फिर साधक संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में

निवास करता हुआ अमरत्व एवं परम प्रेम से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से भौतिक-विज्ञान का उपयोग मानव-दर्शन के प्रकाश में करना अनिवार्य है। दर्शन विहीन विज्ञान के बल पर हम आराम पाना चाहते हैं, इससे हमारी निर्बलता एवं अशान्ति बढ़ती जा रही है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि हमें उपरोक्त समस्या का समुचित समाधान करना है तो संकल्प-पूर्ति के लिए नहीं, अपितु संकल्प निवृत्ति के लिए जीना सीखें तभी हमारा व्यक्तित्व स्वस्थ, सन्तुलित एवं विकासोन्मुख होगा।

**आवश्यक कामनाओं की पूर्ति प्राकृतिक विधान से स्वतः हो जाती है और कामनाओं की निवृत्ति विवेक-सिद्ध है। विवेक उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है; क्योंकि वह किसी प्रयत्न का फल नहीं है, अपितु विवेक से ही सभी प्रयत्न सिद्ध होते हैं। विवेक का सदुपयोग करते ही कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।**

**—सन्तवाणी**

प्रीति का पाठ मछली से पढ़ना चाहिए। मछली जल के बिना किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहती ; किन्तु अभागा जल कभी भी मछली का स्मरण नहीं करता। हाँ, यह अवश्य है कि जो जल की धारा बड़ी-बड़ी पहाड़ियों को तोड़ देती है, मछली उस धारा के विपरीत स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरती है। जल उस पर अपना लेश-मात्र भी शासन नहीं कर पाता, प्रत्युत प्यार करता है। उसी प्रकार सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद के पवित्र प्रेम को पाकर सब प्रकार से सन्तुष्ट हो, कृत्-कृत्य हो जाता है। उस पर संयोग की दासता का तथा वियोग के भय का लेश-मात्र भी शासन नहीं रहता।

—सन्तवाणी

# सेवा का माहात्म्य

जब कभी साधक स्वधर्म को अभ्यास-सिद्ध मानने लगता है, तो उसके जीवन में बड़ी उलझन उत्पन्न हो जाती है। 'विचार', 'विश्वास' और 'अभ्यास'—ये तीनों एक ही जीवन के तीन तथ्य हैं। मानव-सेवा-संघ के अनुसार विचार-पूर्वक अनित्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर देना और विश्वासपूर्वक प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार कर लेना स्वधर्म है और यही सत्संग है। जो 'स्व' के द्वारा सिद्ध है उसमें अभ्यास अपेक्षित नहीं है। अभ्यास की अपेक्षा केवल कर्त्तव्य के क्षेत्र में है, जहाँ साधक प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता एवं परिस्थिति के सदुपयोग के लिए सेवा-कार्य में निपुणता प्राप्त करना चाहता है। कार्य-निपुणता अभ्यास-साध्य है। बिना अभ्यास के किसी भी कार्य को विधिवत् सम्पन्न करना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में पराश्रय एवं परिश्रम-पूर्वक किया गया अभ्यास केवल सेवा के क्षेत्र में उपयोगी है। अतः विचार तथा विश्वास अपने लिए है और अभ्यास से साध्य सर्व-हितकारी प्रवृत्ति जगत् के लिए है। इस धारणा के स्पष्ट हो जाने पर अपना कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण सहज स्वाभाविक हो जाता है। इस तथ्य पर विचार नहीं करने से यह बड़ा

भारी भ्रम हो जाता है कि साधक साधन को भी अभ्यास-सिद्ध मान लेता है। श्रमयुक्त अभ्यास के द्वारा किया गया साधन अखण्ड नहीं होता, परिणाम-स्वरूप सफलता नहीं मिलती।

मानव-सेवा-संघ सफलता की कुञ्जी है। अतः साधक-मात्र के साधन-पथ की बाधाओं को दूर करने के लिए यह सत्य प्रकाशित किया जा रहा है। संघ की साधन-प्रणाली में स्वधर्म से अभ्यास को बिल्कुल पृथक करके दोनों का उपयोग अलग-अलग क्षेत्रों में करने का परामर्श दिया जाता है। इससे साधन-पथ की उलझन समाप्त हो जाती है।

यद्यपि क्रियात्मक सेवा का सम्बन्ध सदैव 'पर' से रहता है, फिर भी साधन-युक्त जीवन का यह एक मुख्य अंग है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'स्व' के द्वारा सत्संग कर लेने पर किसी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता, नवीन रागों की उत्पत्ति नहीं होती है, परन्तु पुराने रागों की निवृत्ति के लिए तथा प्राप्त क्रिया-शक्ति के उपयोग के लिए एक-मात्र माध्यम रह जाती है—पर-सेवा। सेवा अध्यात्मवाद की दृष्टि से राग की निवृत्ति का क्रियात्मक प्रयोग है; भौतिकवाद की दृष्टि से विश्व-जीवन के साथ ऐक्य का प्रतीक है और ईश्वर की दृष्टि से प्रभु-प्रेम के लिए पूजा का क्रियात्मक रूप है। अतः सेवा सब प्रकार के साधकों के जीवन का अभिन्न अङ्ग है। यद्यपि सेवा के लिए पराश्रय एवं परिश्रम की अपेक्षा रहती है, परन्तु राग-निवृत्ति, चित्त-शुद्धि, विश्व-प्रेम तथा प्रभु-

प्रेम के लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए। पर-पीड़ा से पीड़ित होकर, पवित्र भाव से की गई प्रवृत्ति साधक को देहासक्ति में बांधती नहीं है, प्रत्युत देहासक्ति से मुक्त कर अविनाशी जीवन की ओर गतिशील होने में सहायक होती है।

सेवा-तत्त्व साधक के जीवन का एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है कि जिसके बाह्य-क्रियात्मक सिरे से सुन्दर समाज का निर्माण और भीतरी भावात्मक सिरे से अपना कल्याण सुलभ हो जाता है। मानव-सेवा-संघ ने इस अनिवार्य तत्त्व को अपनी साधन-प्रणाली में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। सर्व-हितकारी-प्रवृत्तियों में विशेष अभिरुचि रखने वाले अनेक ऐसे साधक हो गये हैं जिनके जीवन में मुख्य साधना सेवा ही रही है और उसी से उनका बड़ा विकास हुआ है। आइये, इस सेवा के माहात्म्य को भक्त-जीवन की झाँकियों में देखें।

नीच कुल में जन्मी हुई, धनजन, विद्या-बुद्धि, पति-पुत्रादिक से विहीन गँवारी शबरी का जीवन किस साधन से राम-चरित-मानस का उल्लेखनीय अङ्ग बन गया, युग-युगान्तर के भक्तों के लिए वन्दनीय एवं अनुसरणीय बन गया, कोमलचित्त श्रीरघुनाथजी की भक्तवत्सलता को प्रकट करने का माध्यम बन गया ? सोचने से हृदय आह्लादित हो उठता है। उस दीन साधक को यह सब कुछ मिला था भक्तियुक्त-सन्त-सेवा से। शबरी कुछ जानती नहीं थी। उसके जीवन की एकमात्र दिनचर्या थी दण्डकारण्य में रहने वाले वनवासी सन्तों की भक्तियुक्त सेवा। इसमें उसकी अभिरुचि थी। सन्तों की सेवा उसे अच्छी लगती

थी, बस। सेवा के बदले में न सन्तों से कुछ लेना था और न सन्त-सेवा के बदले में भगवान् से कुछ मांगना था। सेवा उसके लिए साधन नहीं, जीवन का साध्य ही थी। देखिये—कितना सुन्दर संयोग बना।

नोच जाति की होने के कारण ऋषिथों के पास जाने का साहस नहीं था। दूर-दूर से छिपे-छिपे लकड़ियाँ तोड़-कर ऋषियों की कुटिया में रख आती। किसी प्रकार शबरी का श्रम ऋषियों के काम आ जाय, इसका आनन्द था 'स्वान्तः सुखाय' जैसा, अभिमान की गन्ध तो आ ही कैसे सकती थी। जिस रास्ते से ऋषिगण पंपासर में स्नान करने जाते थे उस रास्ते को बुहारना और कंकड़ आदि चुनकर फेंक देना शबरी का अत्यन्त प्रिय-कार्य था। "ऋषियों के चरणों में कंकड़ चुभ न जाँय", कितना कोमल भाव है, उस सेवाव्रती का ! शबरी की निस्पृह, निरहंकार, भक्ति-युक्त सेवा ने उसके हृदय को शुद्ध कर दिया। उस निरीह महिला में नीच जाति की होने का जो सङ्कोच रह गया था, प्रभु की प्रेरणा से उसके भी मिटने का समय आ गया।

आश्रमवासी, भगवत्-अनुरागी मतंग ऋषि के हृदय में मूक-सेवा द्वारा सब सन्तों को सुख पहुँचाने वाले के प्रिय-दर्शन की लालसा जाग उठी। उन्होंने शिष्यों सहित रात्रि-जागरण किया और सेवा में रत शबरी को देख लिया। उसके दर्शन से ऋषि को तो बड़ा आनन्द आया, परन्तु शबरी अपनी तुच्छता का ध्यान कर संकोच से गड़ी जाती थी। उसे यह भी नहीं मालूम था कि सन्त-भक्ति की

गङ्गा में नहाकर वह परम पुनीता हो चुकी थी। भगवत् अनुरागी मतंग ऋषि ने उसका महत्त्व आँक लिया—उसे अपने आश्रम में रख लिया, मन्त्र-दीक्षा दे दी और साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि भगवान् श्रीरामचन्द्र जब दण्डकारण्य में आयेंगे, तो उसके आश्रम में पधार कर स्वयं उसे दर्शन देंगे। सेवा का माहात्म्य था कि उस पर सन्त कृपा की अपार वृष्टि हो गई और गुरु-कृपा का यह फल हुआ कि वह प्रभु-मिलन का आश्वासन पा गई।

मतंग ऋषि ने शबरी को प्रभु-मिलन की बात अपने दृढ़ विश्वास के आधार पर कह दी, क्योंकि वे जानते थे कि तप के अभिमानी भले ही पिछड़ जाँय, पर सन्तों की सेवा करने वाली शबरी से मिलने प्रभु अवश्य आयेंगे। भक्तों की सेवा-भक्ति करने वाले साधक प्रभु को अत्यन्त प्रिय लगते हैं। भोली भाली शबरी को पता नहीं था कि वह प्रभु को कितनी प्यारी लगती है। परन्तु गुरु-वाक्य के आधार पर उसने यह मान लिया कि प्रभु बड़े कृपालु हैं और मुझ पर कृपा करके दर्शन देने आयेंगे। प्रभु आयेंगे, प्रभु आयेंगे, बस, एक प्रभु-आवन की मधुमयी अखण्ड प्रतीक्षा में शबरी सराबोर हो गई। क्रियात्मक सेवा की स्वाभाविक परिणति यह है कि सेवक भावात्मक पूजा का अधिकारी बन जाता है और भावात्मक पूजा पुजारी को प्रेमास्पद से अभिन्न कराती है। यही हुआ। उसके भक्ति-रस के आस्वादन के लिए भक्त-परवश भगवान् दण्डकारण्य में पहुँचते ही शबरी के आश्रम पर आ ही गये।

निरभिमान भक्त के प्रेम-रस का स्वाद प्रभु को इतना आनन्ददायक लगता है कि वे उस रस को चखने में स्वयं अपनी प्रभुता भूल जाते हैं। प्रभु को ऐसा नहीं मालूम हुआ कि उन्होंने शबरी को दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया; इसके विपरीत उन्होंने यह कहा कि क्या कहूँ, आज तुमने ऐसे मीठे फल खिलाकर रास्ते की मेरी सब थकान दूर कर दी।

धन्य हैं प्रभु और धन्य हैं उनके भक्त !

जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है।

— सन्तवाणी

# व्यक्तिगत सत्संग

★

सत्संग वस्तुतः व्यक्तिगत ही होता है। सामूहिक रूप में सत्संग के नाम से हम जो कुछ करते हैं, वह सत् चर्चा है। सत् चर्चा में जो कुछ सुना जाय और समझा जाय उसमें से कोई भी बात जो अपने लिये सही और सम्भव मालूम पड़े, उसको अपने द्वारा स्वीकार करना सत्संग कहलाता है। यह स्वीकृति अपने द्वारा की जाती है। इस दृष्टि से सत्संग स्वधर्म है। इसमें पराश्रय अपेक्षित नहीं है। यह पुरुषार्थ व्यक्ति स्वयं ही करता है।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में साधकों की सहायता के लिए इस व्यक्तिगत सत्संग की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, जिसमें यह परामर्श दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने दैनिक कार्यक्रम को इस प्रकार बनाना चाहिए कि उसे प्रतिदिन अपने द्वारा अपने साथ सत्संग करने का अवसर मिल सके। प्रातःकाल सोकर जगते ही सबसे पहले, और रात्रि में सब काम हो जाने के बाद अन्त में सोने से पहले आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। थोड़ी-थोड़ी देर के लिये व्यक्ति यदि अपनी ओर देखने का स्वभाव बना ले, तो उसे स्पष्ट ही इन बातों का पता चल जायेगा :—

(१) अपनी वर्तमान दशा क्या है ?

(२) अपनी वास्तविक मांग क्या है ?

(३) उस माँग की पूर्ति के लिए अपने पर दायित्व क्या है ?

वर्तमान दशा प्रत्येक साधक की भिन्न-भिन्न होती है ; फिर भी एक बात सभी में समान रूप से मिलेगी कि कोई भी दशा जीवन नहीं है, क्योंकि किसी भी दशा में न सन्तोष होता है और न स्थिरता रहती है। इस बात का स्पष्ट परिचय होते ही व्यक्ति को अपनी मांग का पता चलता है। साधक को यह सोचने का अवसर मिलता है कि वह क्या चाहता है ? कभी किसी को ऐसा भी मालूम होगा कि वह चाहता है—सुख-सुविधा की अच्छी व्यवस्था हो जाय, बच्चों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो जाय, रोगी शरीर की चिकित्सा ठीक हो जाय इत्यादि—इस प्रकार की बातें सामने आ सकती हैं परन्तु ये माँग नहीं हैं। ये इच्छायें हैं। इच्छा और माँग में भेद है। जो बातें वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति के आश्रित हैं वे इच्छायें हैं। माँग पराश्रित नहीं है, स्वाश्रित है। माँग की जागृति ही मांगकी पूर्तिमें मुख्य हेतु है। इसमें किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। दूसरा अन्तर यह भी है कि इच्छायें बार-बार पूरी होती हैं और बार-बार उत्पन्न होती हैं, उनका अन्त नहीं होता। इच्छा-पूर्ति से किसी की तृप्ति नहीं होती।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह पता चलता है कि इच्छा-पूर्ति में जो सुखद अनुभव होता है उसको बारम्बार

दुहराने के लिये नयी-नयी इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं, अतृप्ति ही शेष रह जाती है। परन्तु माँग जब एक बार पूरी हो जाती है तो सदा के लिये अभाव मिट जाता है, जीवन पूर्ण हो जाता है। साधक को इन तथ्यों को जानना चाहिए और अपनी माँग का पता लगाना चाहिए। शान्त रह कर अकेले में विचार करने पर उसे पता चल जायेगा कि उसे चिरशान्ति, परम स्वाधीनता और परम प्रेम की माँग है। माँग का स्पष्ट परिचय मिलने पर यह देखना होगा कि मांग की पूर्ति के लिये साधक पर दायित्व क्या है? साधक अपने द्वारा क्या कर सकता है, जिससे कि उसकी माँग पूरी हो जाय? उसके सामने दो बातें आयेंगी :—

(१) जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे माना हुआ सम्बन्ध अस्वीकार कर लो।

(२) जिससे सदा-सदा का सम्वन्ध है, उसको अपना मान लो।

विवेक के आधार पर असत् के संग का त्याग और विश्वास के आधार पर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति साधक को स्वयं करनी होगी। यही दायित्त्व उस पर है। कोई साधक विवेक को प्रधानता देगा, कोई विश्वास को प्रधानता देगा, कोई दोनों को साथ-साथ आरम्भ करेगा। यह साधक की अपनी-अपनी वनावट पर निर्भर है।

परन्तु जीवन का जो सत्य है, उसे सभी साधकों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। साधक पर जो दायित्व है उसको पूरा किये बिना माँग की पूर्ति हो ही नहीं सकती।

शान्ति-मुक्ति-भक्ति मुझे चाहिए और इसके लिए अचाह, अप्रयत्न एवं शरणागत होना है। इन बातों को प्रायः सभी साधक जानते हैं। अपनी माँग एवं अपने दायित्व से बिल्कुल अनजान कोई साधक नहीं रहता है, परन्तु जब वह प्रतिदिन व्यक्तिगत सत्संग करने लगता है, तब ये सब तथ्य उसके जीवन में सबल एवं सजीव हो जाते हैं।

हाँ, एक बात हो सकती है कि कोई साधक ऐसा कह सकता है कि मुझे सत्य तो दिखाई देता है, परन्तु उस पर चला नहीं जाता। अपनी इस दुर्बलता से परिचित होना भी आवश्यक है। व्यक्तिगत सत्संग में साधक को अपनी असमर्थता का परिचय मिलता है। अपनी असमर्थता से पीड़ित होते ही उसमें आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। यह साधक के जीवन का मंगलमय विधान है। आवश्यक सामर्थ्य पाकर साधक अपना दायित्व पूरा करता है और उसकी माँग पूरी होती है।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अपना दायित्व पूरा करने के लिए तैयार न हो, तो एक गुरु की तो कौन कहे, सारे संसार के सभी गुरुजन मिलकर भी उसका उद्धार नहीं कर सकते। यह मानव-जीवन का सत्य है।

एक बार मन में प्रश्न उठा कि इतना दायित्व भी साधक पर क्यों है ? सन्त-वाणी में मुझे सुनने को मिला कि यदि इतना दायित्व भी उस पर न हो, तो उसको अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का भास भी नहीं रहेगा। मानवेतर योनियों में जिस प्रकार प्राकृतिक नियमानुसार सुख-दुःख के भोग की बाध्यता रहती है, उसी प्रकार मानव भी हो जायेगा। आज उसमें इतनी चेतना है कि वह सुख और दुःख दोनों ही दशाओं को देख सकता है और वह अपने को इस बात में स्वाधीन पाता है कि वह चाहे तो दोनों दशाओं से ऊपर उठ सकता है। उसकी चेतना और स्वाधीनता को बनाये रखने के लिये उस पर परम पुरुषार्थ का दायित्व अनन्त के मंगलमय विधान से दिया गया है। इस दायित्व को वहन करना मानव-जीवन का गौरव है।

अपनी निष्ठा के अनुसार मुझे यह मालूम होता है कि परम सुन्दर, परम मधुर एवं परम स्वाधीन ने अपने ही में-से मानव का निर्माण किया है। वे परम स्वाधीन सारे विश्व पर शासन करते हैं, परन्तु मानव जो जन्मजात साधक है, उस पर शासन नहीं करते। साधक जब देखे हुये सुहावने-लुभावने संसार को नापसन्द कर देता है और बे-साथी, बे-सामान का होकर अपने आप में स्थित रहता है, अथवा केवल प्रेम-भाव से प्रेरित होकर बिना देखे, बिना जाने पर अपने को न्यौछावर कर देता है, तो प्यारे प्रभु बड़े ही आनन्दित होते हैं। सब कुछ उन्हीं का दिया हुआ है। ज्ञान का प्रकाश वहीं से आ रहा है, प्रेम का रस वहीं से आ रहा है ; फिर भी मानव अपनी स्वाधीनता से

ज्ञान और प्रेम के अविनाशी तत्त्वों का आदर करता है, तो मानवके रचयिता आनन्दित होते हैं। उसके त्यागमय और प्रेममय जीवन को देखकर संसार में साधक की जय-जयकार होती है, तो साध्य को आनन्द आता है। अपनी बुराई करने वालों के लिये करुणित होकर जब ईसा ने प्रभु से क्षमा-प्रार्थना की, तो संसार उस महापुरुष की क्षमाशीलता पर मुग्ध हुआ और परमपिता को अपने प्यारे की कीर्ति देखकर आनन्द हुआ।

वे परमस्नेही, परम कृपालु प्रभु मानव-जीवन को गौरवान्वित करने के लिए उस पर सत्संग के रूप में पुरुषार्थ करने का दायित्व डालते हैं। साधक को अपने दायित्व के प्रति स्वयं सतत् जागरूक रहना परम आवश्यक है। इसके लिये व्यक्तिगत सत्संग बहुत उपयोगी है।

**साधन वही अनुसरणीय है, जिसके प्रति निस्सन्देहता तथा विश्वास हो और जो स्वभाव से ही रुचिकर हो। ये तीनों बातें जिस साधन के प्रति होती हैं, वह साधन साधकका जीवन हो जाता है तथा उससे सिद्धि अवश्य होती है।**

**——सन्तवाणी**

# विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि

☆

अपनेपन का भास, जगत् की प्रतीति एवं एक अव्यक्त सत्ता की स्वीकृति मनुष्य के व्यक्तित्व में प्रारम्भ से ही होती है, क्योंकि उसकी रचना में जगत् का बीज अर्थात् उसका आकर्षण है, सत्य की जिज्ञासा है एवं प्रियता की लालसा है। जगत् का बीज भूल-जनित है, इस कारण इसका नाश अनिवार्य है। सत्य की जिज्ञासा तथा प्रियता की लालसा अविनाशी तत्त्व हैं, इस कारण जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रियता की प्राप्ति होती है, जो मानव-जीवन की सार्थकता है। इस दृष्टि से मानव का एक-मात्र लक्ष्य है भूल का नाश करना और सत्य एवं प्रेम से अभिन्न होना।

मनुष्य के व्यक्तित्व में भोग की जो रुचि है वही है जगत् का बीज, अर्थात् अपने सुख के लिये पराश्रय एवं परिश्रम की आवश्यकता का अनुभव करना, जो भूल है। इसी भूल के कारण व्यक्ति शरीर तथा जगत् की दासता में आवद्ध हो जाता है। भोग की रुचि से प्रेरित होकर व्यक्ति अपनी

रुचि-पूर्ति के सुख के लिये जगत् से भी कुछ लेना चाहता है और जगत्पति से भी कुछ पाना चाहता है। इससे उसकी बहुत भारी क्षति यह होती है कि वह अभाव में आबद्ध हो पराधीनता तथा बेवशी की पीड़ा से पीड़ित रहता है, जो उसे अभीष्ट नहीं है, क्योंकि पराधीन मनुष्य सबके लिये अनुपयोगी हो जाता है। पराधीनता और अभाव से पीड़ित व्यक्ति अपने आप में असन्तुष्ट, जगत् के प्रति अनुदार और जगत्पति से विमुख रहनें के कारण अपार दुःख पाता है। सारांश यह है कि मानव के जीवन में भोग की रुचि को रखना ही समस्त अनर्थों का मूल है। ठीक इसके विपरीत भोग की रुचि का अन्त करके योगयुक्त होना ही समस्त विकास की भूमि है।

यह अनुभव-सिद्ध सत्य है कि भोग में जीवन नहीं है, योग में जीवन है, क्योंकि योग उसी से होता है जो अपना है, अपने में है और सदैव है, इसलिये अभी भी है। अपने में जो अपना है वह कभी भी किसी को भी श्रम-साध्य उपाय से उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि श्रम पराश्रय के विना सम्भव नहीं है और पराश्रय के द्वारा उससे योग हो ही नहीं सकता, जो अपने में है। अतः पराश्रय एवं परिश्रम से रहित विश्राम में योग है और योग से बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

योग विश्राम में है। विश्राम स्वतः सिद्ध अविनाशी तत्व है। समस्त श्रमों का आरम्भ और अन्त विश्राम में ही होता है। इतना ही नहीं, विश्राम के विना आवश्यक श्रम सम्भव ही नहीं है। समष्टि शक्तियों के कार्य में भी

उनकी गति के आरम्भ तथा अन्त में मूल-सिद्धान्त के रूप में विराम विद्यमान रहता है। मनुष्य के स्नायु-मण्डल के कार्यों के निरीक्षण से यह पाया गया है कि किसी उत्तेजना से उत्पन्न प्रभाव से कोई स्नायु जब एक बार क्रियाशील हो चुकता है, तो पुनः उसमें क्रियाशीलता उत्पन्न होने से पहले विराम की एक छोटी अवधि होती है, जिसे सर्वथा निष्क्रिय कालावधि (Absolute refractory Period) कहते हैं। इस अवधि में वह स्नायु-विराम भी उत्तेजना के प्रभाव से उत्तेजित नहीं होता है। इस विराम की अवधि में शक्ति संचित होती है,तब फिर उसमें संक्षोभ उत्पन्न होनेकी क्षमता आती है और वह स्नायु क्रियाशील होता है। इस विराम और गति का क्रम स्वतः संचालित है। शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान के अध्ययन में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह जाना जाता है कि प्राकृतिक शक्तियों के कार्य के मूल में विराम अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। उसके बिना किसी गति का सम्पादन सम्भव नहीं है। यह विराम विश्राम ही का एक रूप है।

अतः यह स्पष्ट है कि आवश्यक सामर्थ्य के लिए विश्राम अनिवार्य है। यहाँ तक कि परिश्रम और पराश्रय में जो जीवन सा प्रतीत होता है, उसको भी सत्ता योग से ही मिलती है। कोई भी श्रम विश्राम के बिना और कोई भी पराश्रय 'स्व' के बिना सत्ता नहीं पाता। 'स्व' ही 'पर' को स्वीकार कर अपनी ही सत्ता से उसे सत्ता देता है। जिसे वह स्वीकार नहीं करता उसका उसे भास नहीं होता। साधक अपनी दी हुई सत्ता के अधीन होकर अपने को विवश बनाता है। यदि पराश्रय से रहित होकर साधक

'स्व' में प्रतिष्ठित हो जाय, तो यह रहस्य स्वतः स्पष्ट हो जाय। 'स्व' में प्रतिष्ठित होने में विश्राम से प्राप्त योग ही हेतु है।

योग व्यक्ति को अकर्मण्य एवं निष्क्रिय नहीं बनाता, अपितु आवश्यक और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति तथा अनावश्यक एवं अशुद्ध संकल्पों की निवृत्ति में हेतु बनता है। संकल्प-पूर्ति के सुख की पराधीनता में आबद्ध होने पर ही अशुद्ध एवं अनावश्यक संकल्पों की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। आवश्यक एवं शुद्ध संकल्पों की पूर्ति कर्तव्य विज्ञान है। योग को अपना लेने पर कर्तव्य परा-यणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। क्योंकि योग से प्राप्त जीवन स्वाधीनता से अभिन्न कर देता है। मानव-जीवन के भौतिक पहलू की पूर्णता कर्तव्यपरायण होने में है, जिसके लिये सामर्थ्य और स्वाधीनता योग से ही साध्य है। अतः मानव-जीवन की सभी मौलिक समास्याओं का समाधान योग में है।

सामर्थ्य-सम्पन्न स्वाधीन जीवन की मांग मानव की स्वाभाविक मांग है। योग समस्त शक्तियों का स्रोत है। अतः जीवन की मांग की पूर्ति योग से ही सम्भव है। योग में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है, अपितु वह सहज तथा स्वाभाविक है। इस कारण वह नित्य एवं शान्त-रस से पूर्ण है। योग में आस्था होने से योग की मांग सबल तथा स्थायी होती है। योग से अभिन्न होकर जब साधक अपने ही में अपने नित्य जीवन को पाता है तब उसे अपने लिए और कुछ पाना शेष नहीं रहता। जिसे

अपने लिए कुछ भी नहीं पाना है, उसी में प्रेम-तत्व का प्रादुर्भाव होता है।

योगयुक्त होने के लिये चाह-रहित होना मूल उपाय है। चाह-रहित होते ही जो अविनाशी नहीं है उससे असंगता और जो अविनाशी है, उससे एकता स्वतः होती है। बड़े ही रहस्य का तथ्य है कि अचाह होने में जो गति है वह किसी और में नहीं है। कामना के आधार पर जो गतिशीलता आती है वह सूक्ष्म से स्थूलता की ओर ले जाती है और अन्त में शक्तिहीनता में परिणत हो जाती है, किन्तु अचाह में जो गति है वह सृष्टि के उद्गम से अभिन्न कर देती है। यही साधक का अविनाशी से अविनाशी योग है, जो जीवन को पूर्ण बनाता है।

चाह-रहित होने की स्वाधीनता मानव-मात्र को स्वतः प्राप्त है। इस कारण योग जीवन का अत्यन्त सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। चाह-रहित होने पर जिससे माना हुआ सम्बन्ध था, उसकी निवृत्ति और जिससे स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई साधक आत्मा और परमात्मा की स्वीकार न भी करे, तो भी चाह-रहित होने पर वह स्वतः योगयुक्त, आत्मवित् एवं ब्रह्मवित् हो जाता हैं।

जिस प्रकार तृषावन्त प्राणी को जल न मिलने पर जल की अभिलाषा स्वतः उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, उसी प्रकार सच्चे प्रेमियों के हृदय में प्रेमपात्र से मिलने की अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यह भली प्रकार समझ लो कि सुख का राग मिटाने और असार संसार से ऊपर उठाने के लिए ही दुःख आता है। अतः दुःखी प्राणियों को संसार की आशा नहीं करनी चाहिए। ज्यों-ज्यों चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और मन में स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक शक्तियों का विकास स्वतः होता जाता है। निर्वासना आने पर चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और मन में स्थिरता स्वतः आ जाती है।

— सन्तवाणी

# वे श्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं

श्रान्ति की सीमा कहाँ है ? जहाँ साधक का सब बल, पौरुष और प्रयास समाप्त हो जाता है, वहीं उसकी श्रान्ति की सीमा है। वहीं उसके साध्य मिलते हैं। वहाँ पहुँचने से पहले कोई अन्दाज नहीं लगा सकता कि वह कितनी दूर है; क्योंकि उसकी कोई निश्चित रेखा नहीं है। अधिक सामर्थ्यवान् के लिए अधिक दूर, कम सामर्थ्य-वान के लिए कम दूर और नितान्त असमर्थ के लिए अति निकट है। जिसकी दृष्टि की सीमा जहाँ है, वहीं उसके क्षितिज की नीलिमा है। कौन नाप सकता है कि दूरी कितनी है ?

अहा, कैसा अनुपम विधान है ! साध्य से मिलने का मूल्य सबके लिये समान हैं। साधक-समाज के लिए बड़ी ही आशाजनक बात है। अविनाशी जीवन की आवश्यकता अनुभव करें, उसकी पूर्ति के लिए अपने पर जो दायित्व है, उसको स्पष्ट रूप से जान लें, फिर उस दायित्व को पूरा करने के लिए जो कर सकते हैं, कर डालें। जहाँ

अपना करना समाप्त होगा, वहीं आवश्यकता की पूर्ति हो जाएगी। जरा भी देर नहीं लगती। ऐसा होना इस कारण सम्भव है कि जो 'है' वह सर्वत्र-सर्वदा ज्यों का त्यों विद्यमान है। वही सर्वाधार एवं सर्व का प्रकाशक है। वह घट-घटवासी एवं सर्वान्तिर्यामी है। उसी से मानव-मात्र का नित्य सम्बन्ध है।

योगियों का नित्य सम्बन्ध, विचारकों का जातीय सम्बन्ध एवं भक्तों का आत्मीय सम्बन्ध एक उसी से है। योग उसकी महिमा है, ज्ञान उसका स्वरूप है और प्रेम उसका स्वभाव है। साधक योग, बोध और प्रेम होकर ही उससे अभिन्न होता है। योगी के जीवन में चिर-शान्ति, विचारक के जीवन में बोध एवं भक्त के जीवन में प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति अप्रयत्न होने पर ही होती है, यह सभी महापुरुषों का अनुभव-सिद्ध सत्य है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति प्रयत्न-साध्य नहीं है, स्वतः सिद्ध है।

जो 'है' उससे विमुख होने के कारण मनुष्य घोर असमर्थता, पराधीनता एवं अभाव से पीड़ित रहता है। 'है' से अभिन्न होने की आवश्यकता अनुभव करना ही साधन-युक्त जीवन का आरम्भ है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयास की पराकाष्ठा ही श्रान्ति की सीमा है, जहाँ साध्य मिलते हैं।

यह तथ्य मैं पहले जानती नहीं थी। तभी तो अपनी बेबसी देख-देखकर आश्चर्य-चकित होती रहती थी कि इस दुःख-भरे संसार में मैं क्यों आ गई? इससे निकलूँ कैसे?

निकलकर जाऊँ कहां ? मेरे बिना जाने, बिना चाहे किसने मुझे बना दिया और दुःख-सागर में गोते खाते रहने को विवश करके छोड़ दिया है ? भला यह भी कोई बात है ? जो देखने में आता है वह ठहरता ही नहीं, उससे भिन्न कुछ दीखता ही नहीं, मंजिल का पता नहीं है, फिर भी चलना ही पड़ता है ; दुःख भरा जीवन पसन्द नहीं है, फिर भी जीना ही पड़ता है, मैंने क्या अपराध किया है ? कौन न्यायाधीश है ? किस धर्म-संहिता (Code) से उसने मेरे लिए यह दण्ड निर्धारित किया है ? मैं जानना चाहती हूँ.........कौन मेरे जीवन के लिए जिम्मेदार है ?

मेरे प्रश्न पर प्रश्न मूक वायुमण्डल में चीत्कार करते रहते....... ......... परन्तु कहीं से कुछ उत्तर नहीं मिलता............ शून्य.......... शून्य..........चारों ओर साँय................साँय.................शून्य, झुंझला कर प्रश्न करते-करते,..............घटना-चक्र-चालक पर क्षुब्ध होते-होते ; अधिकारपूर्वक कैफियत माँगते-माँगते जब थक गई, तब अधिकार की अकड़ कृपा की याचना में बदल गई। फिर क्या........ ...एक-एक करके सभी प्रश्नों के उत्तर मिल गए। अब मैं देखती हूँ कि जिन्होंने मुझे बनाया, उन्होंने मुझको दुःख-सागर में डूबने के लिए विवश करके छोड़ नहीं दिया। वे तो परम कल्याणमयी माँ की तरह हम शिशुओं पर निरन्तर दृष्टि रखते हैं।

हम दृश्य-जगत में खेलना चाहते हैं, तो वे हमें खेलने देते हैं और फिर उसके दुर्निवार फलों को भी सामने

आने देते हैं, परन्तु जिस क्षण हम खेल छोड़कर उनकी परम शान्त, परम मधुर गोद में अनन्त-विश्राम चाहते हैं, तो उसी क्षण वे ललक कर हमें अपनी गोद में उठा भी लेते हैं, क्योंकि कभी साथ न छोड़ने वाली छाया की तरह वे निरन्तर सबके साथ ही लगे रहते हैं। उन्होंने हमें संसार में भेजा, तो बता भी दिया—"देखो, संसार का कर्त्ता-धर्त्ता मैं हूँ। उस संसार में तुम्हारा कुछ नहीं है। तुम उसकी ममता-कामना मत करना। वह तुम्हारा यज्ञ-क्षेत्र है। तुम केवल वस्तुओं के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना। संसार के किसी प्राणी को कष्ट मत देना। निर्लिप्त होकर विचरना संसार में और निर्बन्ध आनन्द से वापस चले आना। फिर न जाने कब क्या हो गया..............अपने निर्माता का वह निर्देश मैं भूल गई और यहाँ आकर जो जी में आया सो किया। फिर क्या था ! संसार का लालच और भय मुझ पर ऐसा हावी हो गया कि रुला-रुला कर मारा।

हाँ, हमारे जीवन की पूरी जिम्मेदारी अपने समर्थ हाथों में लेने वाले परम उदार ने यह भी कहा है कि संसार से डरने की कोई बात नहीं है। यदि वहाँ जाकर अपनी ही भूल से कोई संकट में फँस जाता है और अपने उद्धार के लिए मेरी सहायता की आवश्यकता का अनुभव करता है, तो मैं उसे तत्काल उबार लेता हूँ। परन्तु हाय रे, मैं हतभागिनी ! उन परम कारुणिक-परम हितैषी-परम सुहृद् की इस अमृतवाणी को भी भूल गई। तभी तो उनकी दुनिया में एक अपना घर बना कर, उस पर अपना आधिपत्य जमा कर सुख और अभिमानपूर्वक जीना चाहती

थी और कभी न शान्त होने वाली मृग-तृष्णा की ज्वाला में जलती थी ।

फिर भी धन्य हैं सृष्टि-कर्त्ता और धन्य है उनका मंगलमय विधान ! बलिहारी है उनके अपनेपन के व्यवहार की ! कब का बिछुड़ा हुआ, भूला भटका मानव........ वापस आना चाहता है, तो झट रास्ता दिखा देते हैं और चलते-चलते थक जाता है, तो स्वयं आकर मिल लेते हैं। जिस किसी को मिले हैं, चाहे जिस रूप में, सभी को उसी श्रान्ति की सीमान्तरेखा पर।

१६५६ में यह सुसम्वाद एक साधक को मिला था। स्वप्न में उसने देखा—सन्ध्या हो गई है। ऊँची चढ़ाई का निर्जन वन-मार्ग है। बादल घिर आए हैं। बूँदें पड़ने लगी हैं और आँधी भी बड़ी तेजी से चलने लगी है। साथ में कोई साथी नहीं है। फिर भी साधक ने ठान लिया कि उसे जाना है जरूर। उस दुर्गम मार्ग पर उसने कदम बढ़ाया ही था कि वन में-से एक सन्त आए और साधक से कहने लगे—"आगे मत बढ़ो। कठिन पंथ है। उस पर तुम नहीं चल सकतीं, इसलिए तुम जिसके पास जाना चाहती हो, वे स्वयं यहीं आकर तुमसे मिलेंगे।" बात बहुत साफ थी। सन्त का दिया हुआ आश्वासन बिल्कुल सत्य और सनातन है। परन्तु क्या कहूँ ! अपनी हृदय-हीनता की हद है........ करुणामय के उस प्रेम-सन्देश को एक निरर्थक स्वप्न माना और साधन-सम्पन्न होने के अहंयुक्त प्रयास को नहीं छोड़ा। फलतः असफलता ही पल्ले पड़ती रही।

मानव-जीवन के इस वैधानिक तथ्य में एक दार्शनिक रहस्य मालूम होता है। कुप्रवृत्तियों एवं व्यर्थचेष्टाओं के लिए तो मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, शुभ-प्रवृत्तियों एवं श्रम-साध्य साधन के आधार पर भी जब तक कर्त्तापन शेष रहता है, तब तक सीमित अहंभाव का नाश नहीं होता। कर्म-चिन्तन-स्थिति किसी भी स्तर पर जब साधक निरा निरुपाय होकर चुप हो जाता है, जब कर्त्तापन की गंध भी नहीं रह जाती, केवल माँग रह जाती है। तब उसका अहंभाव गल जाता है तथा लक्ष्य से अभिन्नता हो जाती है। महापुरुषों का यह अनुभूत सत्य है। इसमें सन्देह करना अपनी ही राह में रोड़े अटकाना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि साधन-सम्पन्न होने का प्रयत्न न क़िया जाय, प्रत्युत इस दिशा में अपना जो दायित्व हो,उसे पूरा करने में कसर न रखी जाय। जितनी तत्परता से हम अपना दायित्व पूरा करेंगे, उतनी ही शीघ्रता से उस बिन्दु पर पहुँचेंगे, जिसके आगे अपने किए कुछ होगा नहीं और साध्य से मिले बिना रहा जायगा नहीं। तब ?……………मैंने सन्तवाणी में सुना है कि इस बिन्दु पर पहुँचने का भास पीछे होता है और ज्ञान का प्रकाश तथा प्रभु का प्रेम पहले मिलता है।

शुद्ध विचारक राजकुमार सिद्धार्थ के जीवन में यही हुआ था। सुना जाता है कि अध्ययन-मनन-तप सब कुछ कर चुकने के बाद भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें कुछ और करना शेष नहीं रहा, केवल जीवन की माँग रह गई, तब उन्हें निर्वाण मिल गया और वे शुद्ध-बुद्ध भगवान् हो गए।

अनन्य भक्त सुतीक्ष्ण जी प्रभु-आगमन की बात सुन कर बड़ी उतावली से भगवान् के पास चले। मन में संकोच था कि जप-तप-साधन-भजन कुछ नहीं किया है, क्या प्रभु मिलेंगे ? जब तक सुतीक्ष्ण जी अपनी ओर देखते रहे, तब तक सशंकित रहे। जब प्रभु की शरणागत वत्सलता की याद आई, तब हर्ष से ऐसे उन्मत्त हो गए कि रास्ता भी भूल गए और अपने को भी भूल गए। तब प्रभु वहीं बीच राह में ही प्रकट हो गए और उनको मिल गए।

ऐसी घटनाओं से सफल साधकों का जीवन भरा पड़ा है। इसमें दो महत्त्वपूर्ण तथ्य मालूम होते हैं। एक तो यह कि जीवन में जब केवल एक माँग रह जाती है, तो वह स्वतः पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में एक निष्ठा का बड़ा महत्त्व है। अपने साध्य से भिन्न किसी भी अंश में कोई दूसरी बात पसन्द है, तो एक निष्ठा नहीं बनती। जीवनी-शक्ति का प्रवाह विभाजित रहता है, फलतः शिथिलता रहती है। जब केवल एक माँग रह जाती है, तब सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति तीव्र गति से उद्गम की ओर प्रवाहित होकर उससे अभिन्न हो जाती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जब तक सूक्ष्माति-सूक्ष्म अहम् जीवित है, तब तक साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। जब यह असफलता साधक से सही भी नहीं जाती और अपने में कुछ करने की सामर्थ्य भी नहीं रह जाती, तब वह श्रान्ति की सीमा पर पहुँच जाता है। वहीं सही अर्थ में शरणागति आती है, जिसके

आते ही अहम्‌रूपी अणु टूट जाता है और साधक योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

साध्य से दूरी, भेद तथा भिन्नता के नाश के बाद की बात तो मैं नहीं जानती, परन्तु साधन के पथ में विभिन्न स्तर पर आई हुई कठिनाइयों के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट होती रहती है कि सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए कर्त्तापन का नितान्त अभाव अनिवार्य है। इसी कारण निर्माता इस बात का बहुत ध्यान रखते हैं कि साधक में कर्त्तापन का अभिमान न बढ़ने पावे। विचार-साध्य प्रगति को भी कृपा-साध्य बनाते रहते हैं। जितना-जितना अपने प्रति उनकी हितैषिता का दर्शन होता है, उतना ही हृदय उनके प्रति कृतज्ञता से उमड़ता है। धन्य है मानव-जीवन और धन्य हैं इसके निर्माता !

निर्बलताओं का अन्त, आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति और लक्ष्य से अभिन्नता विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से विश्राम निर्बल का बल तथा सफलता के लिए अचूक अस्त्र है। इतना ही नहीं, जब सभी प्रयास असफल हो जाते हैं, तब विश्राम से सफलता होती है।

— सन्तवाणी

# साधन-भजन-पूजन

मनुष्य के पास तीन दृष्टियाँ हैं—इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि और विवेकरूपी प्रकाश।

इन्द्रिय-दृष्टि से जगत् दिखाई देता है। धरती, आकाश, पवन, पानी और तेज तथा इनके द्वारा निर्मित सब ठोस अस्तित्व वाले मालूम होते हैं। व्यक्ति कहता है —'जगत् है'।

बुद्धि-दृष्टि से प्रस्तुत दृश्य जगत् में निरन्तर परिवर्तन दिखाई देता है। दिन का उजियाला रात्रि के निविड़ तम में बदलता है। शैशव की पुनीत कोमलता युवावस्था की मादकता में और वह मादकता वृद्धावस्था की जर्जरता में बदलती जाती है। बुद्धि-दृष्टि के इस अनुभव के आधार पर व्यक्ति कहता है—'जगत् परिवर्तनशील है।'

विवेक का प्रकाश दर्शाता है कि परिवर्तनशीलता का अनुभव करने वाला अपरिर्वतित है। यह सब कुछ बदलता जा रहा है। मैं वही हूँ, जिसने 'यह' को बदलते हुए अनुभव किया है। विवेक-जनित इस ज्ञान के आधार पर व्यक्ति जानता है कि—'जगत् से मेरा सम्बन्ध असत्य

है।' परिवर्तनशील के साथ अपरिवर्तित का सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। तीनों ही दृष्टियाँ व्यक्ति के जीवन में काम आती हैं।

इन्द्रिय-दृष्टि को अपनाने का प्रभाव है कि दृश्य जगत् को सत्य, सुन्दर एवं सुखरूप मान कर हम उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। बुद्धि-दृष्टि को अपनाने का प्रभाव है कि हमें जगत् की सत्यता, सुन्दरता एवं सुख-रूपता में सन्देह होता है। विवेक का आदर करने का यह प्रभाव है कि हम दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं।

मानव के जीवन में विवेक के आदर का मुख्य स्थान है। इसके बिना जीवन का द्वन्द्व नहीं मिटता। दृश्य का आकर्षण व्यक्ति को देहभाव से ऊपर नहीं उठने देता। यद्यपि देह में अहम्-बुद्धि स्वीकार कर मानव जन्म-मरण की असह्य यन्त्रणाएँ भोगता है, पर दृश्य के संयोग-जनित सुखद कल्पनाओं को छोड़ता नहीं है। विवेक के प्रकाश में बुद्धि से काम नहीं लेता। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को अपनाकर विषय-सुख-सम्पादन-हेतु बुद्धि खर्च करने लगता है। सुख उसे विवश होकर छोड़ना पड़ता है, परन्तु सुख की आशा को वह स्वेच्छापूर्वक नहीं छोड़ता। यही प्रमाद है, यही दुःखों का मूल है।

विवेकपूर्वक असत् सम्बन्ध को छोड़ना और भाव-पूर्वक सत् सम्बन्ध जोड़ना ही सत्संग है। इतना कर चुकने के बाद आस्तिक साधक का सम्पूर्ण जीवन साधन, भजन और पूजन हो जाता है। (१) जानी हुई बुराई न करना

साधन है। (२) प्रभु की प्रसन्नता के हेतु मिले हुए का ठीक उपयोग करना पूजन है, और (३) प्यारे प्रभु की स्मृति जगाना भजन है।

जानी हुई बुराई न करने का अर्थ है—स्वयं बुराई-रहित होना। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में स्वयं बुराई-रहित होना ही एक-मात्र सार्व-भौम साधन माना गया है। शरीरों की सहायता से किये जाने वाले विविध अनुष्ठानादि व्यक्ति की बनावट के अनुरूप शुभ-कर्म हो सकते हैं, जो अन्तर्भाव को जगाने अथवा क्रिया-शक्ति के वेग का उपयोग करा कर व्यक्ति को राग से रहित करने में सहायक हो सकते हैं। उनको साधन मान लेने में एक भूल यह होती है कि उन साधनों को अपनाने में व्यक्ति की स्वाधीनता नहीं रह जाती; रुचि, योग्यता और सामर्थ्य-भेद होने के कारण सब के लिये उनको समान रूप से अपनाना सम्भव नहीं होता। दूसरी भारी क्षति यह हो जाती है कि शरीरों के माध्यम से किये जाने वाले अनुष्ठानों में व्यक्ति इतना उलझ जाता है कि उस स्तर से ऊपर उठने में बड़ी देर लग जाती है। स्वयं अपने में, अर्थात् अहम रूपी अणु में परिवर्तन लाने की बात गौण हो जाती है, इस कारण जीवन बदलता नहीं है। दैनिक समय-तालिका (Daily routine) बदल जाती है, मौलिक परिवर्तन नहीं होता, जिसके बिना अपेक्षित शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

अतः मानव-जीवन के इस वैज्ञानिक सत्य पर आधारित एक-मात्र सार्व-भौम साधन है—जानी हुई बुराई न

करना। इसे अपनाने में मानव-मात्र स्वाधीन है। इसे अपनाते ही अहम् में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है, जो साधन का सहज परिणाम है।

बुराई-रहित होना आस्तिक के जीवन को पूजन और भजन से युक्त बनाने में सहायक होता है। जब 'नहीं' से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, तब 'है' की स्मृति अति तीव्र हो जाती है। परम मधुर की स्मृति इतनी मधुर है कि उसकी मधुरिमा भक्त और भगवान् दोनों के लिए रस रूपा है। पल-पल में प्रभु की याद आती रहे, वह याद प्रिय को भाती रहे—इसी का नाम है 'भजन।' इसमें शरीरों की सहायता नहीं लेनी पड़ती, प्रत्युत भजनानन्दी प्यारे की याद में शरीरों की सुध-बुध खोता चला जाता है। शरीरों के परिधि-बन्ध के पार पहुँच कर भाव-जगत् में प्रीतम के नित्य-विहार में समाहित होता है। सीमित व्यक्तित्व की सीमा टूट जाती है और अहम्-रूपी अणु प्रेम की धातु में बदल जाता है, मानव जीवन का यही परम लाभ है, सर्वोच्च विकास है, सान्त का अनन्त से मिलन है, संसृति का सृजन के पार हो जाना है।

❀

# भक्ति-योग

मानव के जीवन में सुख-दुःख का द्वन्द्व है। सुख पसन्द आता है, दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है। यह विवशता किसी को अच्छी नहीं लगती। सजग मानव जीवन का अध्ययन करता है और निष्कर्ष में यह पाता है कि सुख-दुःख का भोग मानव-जीवन की स्वाभाविकता नहीं है। सुख-दुःख से अतीत के दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन की माँग की पूर्ति उसका लक्ष्य है। विवेक के प्रकाश में वह अनुभव करता है कि सुख-भोग की रुचि का नाश किये बिना दुःख की निवृत्ति एवं असमर्थता का अन्त नहीं होगा। मानव जीवन का यह एक दार्शनिक तथ्य है कि सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं परम प्रेम से परिपूर्ण जिस नित्य जीवन की माँग उसको है, वह जीवन अपने में है। जो अपने में है, उसकी अभिव्यक्ति किसी श्रम-साध्य उपाय से नहीं होती। सुख की कामना का त्याग कर पराश्रय एवं परिश्रम से रहित होने पर ही उस जीवन की ओर प्रगति आरम्भ होती है। इस दृष्टि से कामना-रहित होना साधक-मात्र के लिए अनिवार्य है।

मानव-जीवन के विकास के लिए उसकी तीन प्रकार की शक्तियों के आधार पर तीन साधन-प्रणालियाँ या पथ हैं—क्रिया-शक्ति के आधार पर कर्त्तव्य-पथ, विवेक-शक्ति के आधार पर विचार-पथ तथा भाव-शक्ति के आधार पर विश्वास-पथ। साधक अपनी रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार अपने साधन का निर्माण उपर्युक्त किसी भी एक साधन-प्रणाली के अनुसार कर सकता है। परन्तु एक बात सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। वह यह कि ममता और कामना का त्याग सभी को करना पड़ता है। निर्मम और निष्काम हुए बिना कर्त्तव्य-परायणता, असंगता अथवा प्रभु की आत्मीयता सम्भव नहीं होती, जिसके बिना विश्राम नहीं मिलता और विश्राम के बिना वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से साधक-मात्र के लिए श्रम-रहित होना अनिवार्य है। विश्राम की प्राप्ति होती सभी पथों से है। जो विश्राम मिले हुए के सदुपयोग से तथा जाने हुए के प्रभाव से प्राप्त होता है, वही विश्राम सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास-पूर्वक अपने को समर्पित करने पर भी प्राप्त होता है।

श्रद्धा का पथ मानव-जीवन के विकास का एक स्वतन्त्र-पथ है। इसका भी एक दर्शन है। प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। अतः सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रतीति जिससे हुई है, वह आश्रय तथा प्रकाशक समस्त विश्व का है। हम सब का जो आश्रय

तथा प्रकाशक है, उसे हम भले ही इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देख नहीं पाते ; किन्तु उसकी आवश्यकता का अनुभव करते ही हैं। जो सबका है, सर्वत्र है, सदैव है, समर्थ और अद्वितीय है, वह अपना भी है, अपने में है और अभी है। उसको बुद्धि की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, अपितु उसकी आवश्यकता का अनुभव होता है, इस कारण अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्वीकार करना, उसके प्रेम को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि शरीरादि वस्तुओं को अपना मान लेना भूल है ; क्योंकि इनसे साधक का नित्य सम्बन्ध नहीं है ; परन्तु जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है और प्रकाशित है, उसे अपना न मानना भी भारी भूल है।

आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक अपने प्रकाशक से अपनापन मान लेने के बाद उसकी आस्था में अन्य सभी आस्थाएँ, उसके विश्वास में अन्य सभी विश्वास और उसकी आत्मीयता में अन्य सभी सम्बन्ध विलीन हो जाते हैं। इतना ही नहीं, विश्वासी साधक की अनेक इच्छाएँ एक प्रभु-प्रेम की आवश्यकता में विलीन हो जाती हैं और उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ एक पूजा-भाव से भावित हो जाती हैं, अर्थात् उसके अन्तरंग-बहिरंग सम्पूर्ण जीवन में एक भागवती निष्ठा प्रतिष्ठित हो जाती है, जो उसे अखंड योग का अधिकारी बना देती है ; क्योंकि विश्वासी साधक में इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि आदि में द्वन्द्व नहीं रह जाता। सब-के-सब एक ही भाव से भावित एक ही लक्ष्य की प्राप्ति में एक ही केन्द्र पर केन्द्रित हो जाते हैं। इस दृष्टि से

विश्वासी साधक का अपने श्रद्धास्पद के साथ नित्य-योग रहता है।

अनेक इच्छाएँ उसी की आवश्यकता में विलीन हो सकती हैं, जो अविनाशी हो और पूर्ण हो। वस्तु-व्यक्ति आदि की किसी भी इच्छा में अनेक इच्छाएँ विलीन नहीं होतीं, प्रत्युत एक-एक इच्छा से अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिससे व्यक्ति व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है और योग से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से जो 'है' उसकी आवश्यकता का अनुभव करना विकास में हेतु है।

प्रभु-विश्वास प्रभु से सम्बन्ध जोड़ देता है और सम्बन्ध से स्वतः स्मृति जागृत होती है। स्मृति जिसमें जागृत होती है, उसे उससे अभिन्न कर देती है, जिसकी स्मृति है। स्मृति जागृत होते ही व्यर्थ-चिन्तन का स्वतः नाश हो जाता है, जो योग है।

संसार की याद से साधक अभाव-ग्रस्त होता है ; क्योंकि संसार अप्राप्त है। प्रभु की स्मृति साधक के जीवन में-से अभाव का नाश करती है ; क्योंकि प्रभु नित्य प्राप्त हैं, केवल विस्मृति के कारण ही उनसे दूरी, भेद और भिन्नता भासित होती है। उनकी स्मृति के जागृत होते ही दूरी, भेद और भिन्नता का नाश होने लगता है, जो नित्य योग है।

स्मृति अभ्यास नहीं है, अपितु प्रभु-विश्वास का फल है। विश्वासी साधक के जीवन में पूर्ण निश्चितता, निर्भयता स्वतः आ जाती है, क्योंकि सर्वांश में प्रभु-विश्वास

अपना लेने पर विश्वासी का सारा दायित्त्व श्रद्धास्पद पर आ जाता है। इस दृष्टि से विश्वासी साधक भी चिर-विश्राम पाता है, प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा से स्वतः साधन का निर्माण भी हो जाता है और साधन तथा जीवन में एकता भी हो जाती है। इतना ही नहीं, साध्य की अगाध, अनन्त प्रियता से भिन्न उसका कोई अस्तित्त्व ही नहीं रहता। प्रियता से प्रियतम को रस मिलता है, यही शरणागत साधक का सर्वस्व है। जो जीवन प्रेमास्पद के लिए रसरूप हो जाय, वही जीवन का सुन्दरतम चित्र है।

प्रभु-विश्वास को अपना लेने पर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता ; क्योंकि विश्वासी में किसी प्रकार का अभिमान नहीं रहता, अर्थात् निरभिमानता आ जाने पर चिर-विश्राम सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु बड़ी ही सजगतापूर्वक यह देखते रहना आवश्यक होता है कि कहीं निरभिमानता का अभिमान न हो जाय। निरभिमानता समस्त अभिमानों को खाकर स्वतः सदा के लिए समाप्त हो जाय, तभी समता और प्रियता से अभिन्नता होती है। यह सारा दायित्त्व प्रेमास्पद का है और वे अपनी अहैतुकी कृपा से उसे पूरा करते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। शरणागत के सभी कार्य शरण्य के द्वारा होते रहते हैं। शरणागत हो जाना ही शरणागत के प्रयास की परावधि है। प्रयासों का अन्त होते ही शरणागत चिर-विश्राम पाता है और उसमें शरण्य की अगाध प्रियता स्वतः जागृत होती है। प्रियता की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है। ★

संसार क्या है ?—भगवान् से मिलने की ट्रेनिंग। जो संसार में ठीक से रह लेता है, ढंग से रह लेता है, वह भगवान् से अच्छी तरह मिल सकता है। अगर वह भूल भी जाता है, तो भगवान् आ कर मिल लेते हैं। अगर आप अपनी परिस्थिति का ठीक उपयोग कर लेते हैं साधन-बुद्धि से, तो आपको सिद्धि का आह्वान नहीं करना पड़ेगा, सिद्धि आपका आह्वान करेगी। अगर आप परिस्थिति का ठीक उपयोग कर सकते हैं पूजा-बुद्धि से, तो आपको भगवान् की याद नहीं करनी पड़ेगी, भगवान् आपको याद करेंगे।

— सन्तवाणी

# अहैतुकी कृपा

कृपा सदैव अहैतुकी ही होती है, उसका कोई हेतु नहीं होता। मानव-जीवन का निर्माण परम कृपालु की अहैतुकी कृपा से हुआ है। ऐसा मानने का आधार यह है कि यह जीवन किसी पुरुषार्थ का फल नहीं है। सबसे पहले पुरुषार्थ की सामर्थ्य से सम्पन्न यह जीवन मिला है, बाद में पुरुषार्थ का दायित्त्व आया है।

मानव सृष्टि की सर्व-श्रेष्ठ रचना है। ऐसा इस कारण माना जाता है कि इसी योनि में आकर मनुष्य देखे हुए जगत् के प्रलोभनों को ठुकरा कर बिना देखे हुए वास्तविक जीवन की ओर अग्रसर होता है। मानवेतर योनियों में प्राणी सुख-दुःख भोगने को बाध्य है। केवल मानव-जीवन ऐसा है, जिसमें सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश पाने की स्वाधीनता मिली है। मानव के जीवन की ऐसी अनुपम रचना रचयिता की अहैतुकी कृपा का प्रसाद है।

सुना जाता है कि अहैतुकी कृपा को धारण करने वाले परम कृपालु में अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य एव अनन्त सौन्दर्य है। अनन्त ऐश्वर्य का अर्थ है अजेय होना,

अर्थात् जिस पर कोई विजयी न हो सके। अनन्त माधुर्य का अर्थ है असीम अपनापन, जिसमें सारी सृष्टि समा सके, अर्थात् जो प्राणी-मात्र को अपना सके। अनन्त सौन्दर्य का अर्थ है असीम आकर्षण, जो सभी को आकर्षित कर सके। ऐसी दिव्य विभूतियों से विभूषित सत्ता से मानव की रचना हुई है और उसको स्वाधीनता दी गई है कि यदि वह दिव्य-चिन्मय जीवन पसन्द करे, तो अचाह होकर ऐश्वर्य से, निर्विकार होकर सौन्दर्य से तथा आत्मीयता के द्वारा माधुर्य से सम्पन्न हो सकता है। रचयिता अपनी रचना को अपना ही रूप दे दे—यह उसकी अहैतुकी कृपा नहीं, तो और क्या है ? मैंने पाश्चात्य दर्शन में पढ़ा था— ईश्वर ने मानव का सृजन अपनी ही प्रतिरूप जैसा किया ("God created man in His own image")। दर्शनकार की क्या धारणा थी, सो तो मैं नहीं कह सकती, पर मेरी धारणा के अनुसार यह बात अक्षरशः सत्य है।

चाह-रहित एवं विकार-रहित होने के लिए विवेक का प्रकाश बिना मांगे ही सभी को मिला हुआ है। अनन्त से आत्मीयता स्वीकार करने के लिये हृदयशीलता बिना मांगे ही मिली है। मानव-जीवन की यही सबसे बड़ी विशेषता हैं, जो कृपा-साध्य है। सत्य की खोज और प्रियता की लालसा मानव-जीवन की मौलिक माँग है। यह माँग जन्म-जात है। किसी भी दशा में यह मिटती नहीं है। इसकी पूर्ति से पहले अभाव का अन्त नहीं होता। संसार का ऊँचे-से-ऊँचा भोग पाकर भी व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता। एक समय था जब कि यह असन्तोष मुझे काँटों

की तरह चुभता था, जीवन का अभिशाप मालूम होता था। अब वह जीवन का वरदान मालूम होता है। जो मानव अमर जीवन का अधिकारी है, परम प्रेम का अभिलाषी है, उसे भला जड़ जगत् कैसे सन्तुष्ट कर सकता है? धन्य है रचयिता की कारीगरी।

दिखाई देने वाले जगत् के प्रलोभनों का संवरण करते ही मानव-जीवन की दिव्यताओं की अभिव्यक्ति होने लगती है, जिसे देखकर जगत् चकित होने लगता है। सब प्रकार की चाहों से रहित हुए त्रिगुणातीत, परम स्वाधीन पुरुष को सारा जगत चाहने लगता है। सुने हुए प्रभु पर भोग और मोक्ष न्यौछावर करने वाले भक्त पर जगत् और जगत्पति दोनों मुग्ध होते हैं। अपनी रचना को इतनी सुन्दरता प्रदान करना कि स्वयं ही उस पर मुग्ध हो जायँ —यह उनकी अहैतुकी कृपा नहीं, तो और क्या है?

यह तो हुई सही मानव की बात, मानवता से विभूषित जीवन की बात। मुझे तो जीवन के प्रत्येक स्तर पर, प्रत्येक पहलू में कृपा ही कृपा दिखाई देती है। जन्म-काल से शरीरपात तक इसके संरक्षण का सब प्रबन्ध सभी के लिये समान रूप से रहता है। जल, वायु, धरती, आकाश और प्रकाश सभी को बिना मूल्य मिलता ही है। शरीर का हम दुरुपयोग कर रहे हैं कि सदुपयोग, इसका भेद रक्खे बिना ही आवश्यक भौतिक तत्त्व सभी को समान रूप से मिलते ही हैं। इतना ही नहीं, हमें सर्वांग सुन्दर बनाया गया है। ऊँचे-से-ऊँचे जीवन को पाने की स्वाधीनता और सामर्थ्य भी दी गई। परन्तु हम निज-विवेक का अनादर, मिले हुए का दुरुपयोग एवं दृश्य जगत् की कामना करके

अपने को मोह, लोभ, भोग, रोग और शोक में आबद्ध कर लेते हैं। फिर भी विवेक का दीपक बुझता नहीं, प्रकाश आता ही रहता है। परम कृपालु से हम विमुख हो जायँ, तब भी कृपा-दृष्टि हटती नहीं। इतना ही नहीं, विरोध-काल में भी उन्हें संरक्षण एवं पथ-प्रदर्शन करते हुए पाया गया है। यह अहैतुकी विशेषण की सार्थकता है।

असंख्य भूलें कर चुकने के बाद भी यदि हम निर्दोष जीवन के लिये तड़पते हैं, तो जन्म-जन्मान्तर के असंख्य दोष निर्दोषता की मांग की तीव्रता से धुल जाते हैं। शक्ति का स्रोत निरन्तर बह रहा है। करुणा और कृपालुता निरन्तर बरस रही है, कभी घटती नहीं है। इसलिये घोर असमर्थता-काल में भी जब सत्य एवं प्रेम से अभिन्न होने की मांग जगती है, तो आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आती है और साधक सिद्धि पाकर कृतकृत्य होता है। धन्य हैं कृपालु और धन्य है उनकी अहैतुकी कृपा !

इतना ही नहीं, परम कृपालु को जो साधक मानते हैं और जो नहीं मानते हैं ; कृपा की भिक्षा जो मांगते हैं और जो नहीं मांगते हैं, सभी पर कृपा-दृष्टि होती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि कृपा का दर्शन करने वाला उस अनुभव के आनन्द में विभोर रहता है। वह कृपालु का आश्रय लेकर सदा के लिये निश्चिन्त और निर्भय हो जाता है। चिन्ताकुल को निश्चिन्त, बद्ध को मुक्त और अनाथ को सनाथ करने वाली एकमात्र परम कृपालु की अहैतुकी कृपा ही है।

▫

# प्रभु की प्रियता

**पू. पा. श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज के**
**वृन्दावन में दिये हुए एक**
**प्रवचन का संक्षेप**

★

अभी यह कहा गया कि 'वह' अपने में है, अभी है, अपना है, समर्थ है। और यह बात आपने स्वीकार की। अब प्रश्न यह आता है कि जो परमात्मा अद्वितीय है, समर्थ है, अपने में है, अपना है, अभी है, उसके साथ हमारा कर्त्तव्य क्या है ? 'वह' कहीं दूर नहीं है, कोई गैर नहीं है ; अपने में है, अपना है, अभी है। ऐसा नहीं कि 'वह' भविष्य में मिलेगा या हमें कोई भूतकाल की ओर जाना पड़ेगा। इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयास तो समाप्त हो गया, यदि हमने इस बात को मान लिया कि प्रभु अपने में हैं, अपने हैं, अभी हैं। समर्थ और अद्वितीय तो मानते ही हैं। तो अपने में जो चीज होती है, वह अभी मौजूद है। और अपनी जो चीज होती है, स्वाभाविक है कि उसका मनन भी होना ही चाहिए।

क्योंकि अपने में है, अभी है, इसलिये भविष्य की आशा की तो बात ही नहीं है और कोई प्रयास भी अपेक्षित नहीं। शरीर को लेकर अपने से दूर होती, तो उसके लिये प्रयास चलता। अतः प्रयास भी समाप्त हो गया, क्योंकि अपने में है। क्योंकि अपना है, इसलिये प्रियता स्वभाव से होनी चाहिये। अपना होने से हमको प्यारा लगना चाहिये और अभी होने से भविष्य की आशा नहीं होनी चाहिये। तो, अपने में होने से श्रम गया, अभी होने से भविष्य की आशा गई, और अपना होने से प्रियता आ गई।

यदि हममें प्रियता का उदय हो जाय, तो फिर और कुछ करना शेष नहीं रह जायगा। ये तीन बातें हैं—'वह' अपने में है, इसलिए तो प्रयास गया, श्रम गया ! अभी है, तो भविष्य की आशा गई ; और अपना है, तो प्रियता होनी चाहिये। तो, प्रियता का उदय होना अपनी स्वीकृति का फल हुआ। पुनः समझ लीजिये कि यदि आपने यह मान लिया कि प्रभु अपने में है, अभी है, और अपना है; तो अपने में होने से परिश्रम गया। अभी है, तो भविष्य में मिलेगा—यह धारणा गयी। लेकिन साथ-साथ 'वह' अपना भी है, इसलिये केवल प्रियता ही प्रियता की बात रह गई और बाकी तो अन्य कोई प्रयास रहा ही नहीं।

यदि परमात्मा की प्रियता हममें उदय हो जाय—इस भाव से कि प्रभु अपना है, और भविष्य की आशा मिट जाय—इस बात से कि 'वह' अभी है और परिश्रम इस बात से कि 'वह' अपने में है, तो परिश्रम-रहित होना, भविष्य की आशा से रहित होना और प्रियता का उदय होना

—यह अपनी स्वीकृति का फल होना चाहिये। अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। और मान लो प्रियता नहीं है, तो इस बात की व्यथा तो रहनी चाहिए जीवन में, कि अपने प्रभु अपने को प्यारे नहीं लगते !

बहुत सारा समय तो साधकों का इसमें ही चला जाता है कि वे यह समझते रहते हैं कि अभी हमने इतने घण्टे ध्यान नहीं किया, इतना चिन्तन नहीं किया, इतना जप नहीं किया ; फिर हमारा और परमात्मा का मिलन कैसे हो सकता है ? तो, परमात्मा आपके इस परिश्रम के अधीन तो है नहीं। इस सत्य से यह बात तो खतम हो गई न ? अब यह सुना कि 'वह' तो अपने में है तो, बाहर की खोज मिट गई ; क्योंकि जो चीज अपने में होती है, उसके लिए बुद्धि अपेक्षित नहीं है।

जब शरीर की अपेक्षा नहीं है, तो प्रयास गया ; क्योंकि 'वह' अपने में है और अभी है, इसलिये भविष्य में मिलेगा यह भ्रम भी गया। अतः जो अपना है, उसकी प्रियता उदय होनी चाहिए।

प्रीति में प्रियतम का नित्य वास है और प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है। इसलिये अपनत्व के नाते प्रियता जगनी चाहिये। अब यदि अपने परमात्मा से कुछ चाहते हैं, तो इसका मतलब है कि आप अपने परमात्मा से कुछ लेना चाहते हैं। और जब कुछ लेना है, तो परमात्मा में प्रियता कहाँ हुई ? परमात्मा हमको स्वभाव से प्यारा लगना चाहिये। यह एक यूनीवर्सल ट्रुथ है कि जो चीज प्यारी लगती है, उसमें मन स्वतः लगा रहता है।

हम नहीं जानते कि परमात्मा कैसा है, पर मन जानता है कि परमात्मा कैसा है। इसलिये जब 'वह' हमें प्यारा लगेगा, तो मन परमात्मा में चला जायगा, अपने-आप चला जायगा। हमारा काम खतम हो गया, अब यह हमारा काम नहीं रहा।

परमात्मा अपने में होने से हमें परिश्रम अपेक्षित नहीं, पराश्रय लेना जरूरी नहीं। अभी होने से उसके लिए भविष्य की आशा करना विवेक से सिद्ध नहीं। और अपना होने से 'वह' हमको प्यारा लगना ही चाहिए। तो, परमात्मा का प्यार हममें उदय हो। प्यार में वह शक्ति है एक सन्त के कथन के अनुसार, कि मन रूपी पक्षी तभी तक उड़ता फिरता है, जब तक प्रेम जाग्रत नहीं होता। वह तब तक ही भटकता है। जब उसमें प्रियता जाग्रत हो जायगी, तो वह सदा के लिए भगवान् में चला जायगा। ईमानदारी की बात तो यह है कि वह बेचैन होना चाहिये इस बात के लिये, कि 'वह' हमसे मिला नहीं। उसको (मन को) प्यारा लगता है, फिर भी मिला नहीं। मैंने 'उसे' अपने में स्वीकार किया है, अब मैं इससे भेद कैसे रख सकता हूँ!

परन्तु हम लोग तो परमात्मा का भोग करना चाहते हैं और इसीलिये हमको जिमनाष्टिक करनी पड़ती है—ऐसे ध्यान लगाओ, इस प्रकार चिन्तन करो। क्यों? क्योंकि परमात्मा आयेगा तो हमको बड़ा सुख मिलेगा। उसके समीपता का, उसके दर्शन का, उसके वैभव का मजा लेंगे। तो, ये जो वैभव का मजा लेने वाले लोग हैं, वे

परमात्मा को अपनी सुख-सामग्री बनाने वाले हैं। वे तो कभी प्रेमी होने के नहीं। इसलिये यही विचार कीजिये कि प्रभु हमें प्यारा लगे। और परमात्मा भी तड़पता है हमसे मिलने के लिये। जिसे प्रभु प्यारा लगता है, उसे तो फुरसत ही नहीं मिलने के लिये।

राम के वन-गमन का प्रसङ्ग उपस्थित है। श्रीलक्ष्मण जी साथ चलने की प्रार्थना करते हैं। श्रीराम करते हैं, 'तुम यहाँ रहो।' उत्तर में वे कहते हैं: 'धर्म-नीति उपदेशिअ ताही'—प्रभु,धर्म-नीति का उपदेश तो उसे करो, जिसे कुछ चाहिये। सीधी बात यह है कि उन्हें और कुछ चाहिये ही नहीं। वे तो अपनी दशा बताते हैं, अपनी व्यथा बताते हैं—मन-क्रम-बचन—मन से,कर्म से, वाणी से। मन-क्रम-वचन, चरण-रत होई। कृपासिन्धु, परिहरिअ कि सोई।' अब भगवान् राम का मुँह बन्द हो गया। कहा—जाओ, माता सुमित्रा से आज्ञा ले आओ। सुमित्रा ने कहा—'जहाँ राम, तहाँ अवध निवासू।' भैया लखन,"...... तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो तुम्हें आज राम की सेवा का अवसर मिला है, तुम बड़े भाग्यशाली हो। सीता तुम्हारी मैया है, राम तुम्हारे पिता हैं, तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं ; जाओ, जाओ जरूर जाओ।'

महाराज ! जिस पतिव्रत-धर्म को लेकर महारानी सीता राम के साथ बन जाती हैं, वही वियोग की व्यथा श्री उर्मिला जी के सामने मौजूद है। वही व्यथा उनके साथ है, पर वे कहती हैं—'मेरा पति सेवक है और सेवक को स्त्री रखने का अधिकार नहीं है। मेरे पति का संकल्प

राम की सेवा में जाने का है, तो मैं मूक होकर, शान्त होकर, वियोग की व्यथा सहूँगी, पर पति के स्वधर्म-पालन में मैं बाधक नहीं बनूँगी।' यह प्रेम है।

महाराज! आज के युग में बिल्कुल ऐसा ही प्रेम दो देवियों के जीवन में नजर आता है—यशोधरा और विष्णुप्रिया के जीवन में। एक बार—मुझे शब्दावली स्मरण नहीं है—यशोधरा ने कहा कि 'हे नाथ! तुमने कैसे यह समझ लिया कि मैं आपके विकास में बाधक बनूँगी? आप मुझसे बिना कहे चले गये। मैं आपके मन में नहीं आई?' बुद्ध देव ने क्षमा माँगी और कहा,—'देवि, तुम ठीक कहती हो।'

यह बात भी नहीं कि प्रेम त्रेता में ही था। विष्णुप्रिया की व्यथा देखो, उसकी दशा देखो। महाराज, १३-१४ वर्ष की लड़की है। पति संन्यास लेने जा रहा है, दोनों में अगाध प्रेम है। क्या कहा जाय! प्रेमियों की दशा विचित्र होती है।

मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि एक नहीं, अनेक प्रेमियों के जीवन पर आप विचार करके देख लीजिये। प्रेमियों में केवल एक ही सत्य दिखाई देता है—प्रिय को रस देने में स्वधर्म है, सही धर्म है। यह हमें मालूम है। इसी बात को समझाने के लिये गोपियों के जीवन में बड़ी सुन्दर बात आती है। श्रीकृष्ण जब मथुरा जाने लगे, तब गोपियाँ उनके रथ से लिपट गईं। कहने लगीं—'नहीं जाने देंगीं।' श्रीकृष्ण ने जल्दी ही लौट आने का आश्वासन दिया, परन्तु परसों में बरसों बीत गये, पर

लौटने का नाम न लिया। गोपियाँ कभी कदम के वृक्ष से लिपट कर, कभी कुञ्जों में झाँक-झाँक कर श्रीकृष्ण को पुकारती हैं। उनके वियोग में गोपियाँ अधीर हैं, व्याकुल हैं, बेचैन हैं। महाराज ! यह दशा हो गई उनकी कि उन्हें जड़-चेतन का भान न रहा। अगर दृष्टि पड़ती है वन पर तो कहती हैं—'वृक्ष, तुम क्यों हरे हो !'

'बिनु गोपाल, वैरिन भई कुञ्जें।' सारा ब्रज सूना हो गया। वह उन्हें विरहाग्नि से जलता दिख रहा है। उसी समय एक बुद्धिमान सज्जन पहुँचे गोपियों के पास और कहने लगे—अरी गोपियो, तुम बड़ी बावरी हो। दिन-रात हाय श्याम सुन्दर, हाय श्यामसुन्दर रटती रहती हो, बेचैन हो, व्याकुल हो। मथुरा कितनी दूर है ? चली क्यों नहीं जातीं ? उन्होंने उत्तर दिया—'यह आप ठीक कहते हैं। हम भी भली-भाँति जानती हैं कि मथुरा ज्यादा दूर नहीं है। यह बात भी बिल्कुल ठीक है कि यदि प्यारे श्यामसुन्दर आ जाँय, तो बड़े ही आनन्द की बात है। पर एक बात तो बताओ—जब उनके मन में अलग रहने की है, तब हम कैसे जाँय ?'

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमियों के जीवन में जीवन-धन को रस देने के अतिरिक्त निज सुख-भोग की गन्ध भी नहीं रहती। और इस प्रकार का भाव उनमें सहज रूप से विद्यमान रहता है। उसको जगाने के लिये उन्हें कोई क्रिया, कोई परिश्रम, कोई पराश्रय अपेक्षित नहीं होता। इसलिये प्रभु की प्रियता को जगाने के लिये उनको अपना मानना ही एक-मात्र उपाय है, अन्य कोई भी क्रिया,

अभ्यास अथवा परिश्रम अपेक्षित नहीं। इसलिये, महानुभाव! यदि आप चाहते हैं कि प्रभु आपको प्यारे लगें, तो उन्हें अपना मान लीजिये। वे अद्वितीय हैं, अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं और सर्व-समर्थ हैं—ऐसा स्वीकार करते ही आपका काम बन जायगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

जिनकी अहैतुकी कृपा जीवन तथा सामर्थ्य देने वाली एवं पवित्र करने वाली है, उनसे यदि सर्वहितकारी सद्भाव को अपनाकर बल के सदुपयोग, विवेक के आदर तथा राग-द्वेष की निवृत्ति एवं सेवा-त्याग-प्रेम की प्राप्ति के लिए मांग की जाय, तो उसकी पूर्ति अवश्य होती है।

—सन्तवाणी

# प्रार्थना

★

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानव-मात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवम्
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का नाश करें ;
सभी का जीवन
सेवा-त्याग-प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय ।
ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

दुःखी प्राणी को केवल दुःखहारी हरि का होकर रहना चाहिए। सच्चा त्याग कल्पतरु के समान है। जिस मन से शरीर आदि वस्तुओं का ध्यान निकल जाता है, उस मन में भगवद्-ध्यान स्वतः होने लगता है; क्योंकि वस्तुओं के ध्यान ने भगवद्ध्यान से विमुख किया है। जिस अहंता से सभी सम्बन्ध तथा स्वीकृतियाँ निकल जाती हैं, उस अहंता में आनन्दघन भगवान् निवास करते हैं। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। निरन्तर प्रेमपात्र का चिन्तन करते रहो अथवा उनके सर्मापित हो, अचिन्त्य हो जाओ।

— सन्तवाणी